1

बढ़ते भगवान (प्रतिमायें) – घटते भक्त

श्रावक के षट् आवश्यक कर्त्तव्यों में देवपूजा प्रथम कर्त्तव्य है। प्रत्येक श्रावक (गृहस्थ) को प्रतिदिन देवदर्शन/पूजन करना ही चाहिए। कलिकाल में साक्षात् अर्हन्त परमात्माओं का अभाव है; अत: उनका विरह भुलाने को जिनमन्दिरों का निर्माण करके जिनप्रतिमाओं की स्थापना करवाना भी अनिवार्य है।

आबाल–वृद्ध सभी देवदर्शन का लाभ लेते हुए आत्मकल्याण के मार्ग को प्रशस्त कर सकें, एतदर्थ नगरों के विकास के साथ–साथ जिनमन्दिरों का निर्माण व जिन प्रतिमाओं की स्थापना भी हो रही है और आवश्यकतानुसार होनी भी चाहिए।

देश में प्रतिवर्ष लगभग 50 पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें आयोजित की जा रही होंगी, जिनमें अनुमानित 500 से 1000 प्रतिमायें मंत्रोच्चार-पूर्वक विराजमान की जा रही हैं। उक्त पंचकल्याणकों/प्रतिमाओं की संख्या में अधिकांश यह देखा जा रहा है कि जहाँ पंचकल्याणकों की/जिनप्रतिमाओं की आवश्यकता नहीं है, वहाँ भी कुछ श्रेष्ठीगण अपने धन का सदुपयोग (?) करने एवं भगवान की प्रतिष्ठा के साथ–साथ अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लोभ में आवश्यकता न होते हुए भी नई वेदियों का निर्माण कराके या उन्हीं वेदियों में भीड़ बढ़ाते हुए; शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा तो थी, परन्तु पार्श्वनाथ या महावीर या बाहुबली की नहीं थी या 20 तीर्थंकर या 24 तीर्थंकर या पंचमेरु की कमी या अन्य किसी बहाने से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव और जिनबिम्ब की स्थापना करा रहे हैं। प्रतिष्ठाचार्य महोदय तथा अन्य प्रेरक विद्वान्/त्यागीगण भी अपना नाम अजर–अमर करने हेतु (?) ऐसी ही प्रेरणायें दे रहे हैं; साथ ही समाज के लोग भी 'हमें तो आनन्द लेने से मतलब' जानकर ऐसे कार्यक्रमों को भी सफल बना रहे हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि जिस अनुपात में भगवान बढ़ रहे हैं, क्या उस अनुपात में दर्शनार्थी/पूजनार्थी/भक्तगण भी वृद्धिंगत हो रहे हैं? हमारा उत्तर होगा, 'शायद नहीं।' कोई तो यह भी कहेगा कि शायद नहीं; 10 प्रतिशत भी वृद्धि नहीं हो रही है। एक ओर जहाँ कार्यक्रमों में लाखों/करोड़ों रुपयों की बोली लगाकर भगवान विराजमान कर रहे हैं, वहीं कार्यक्रम सम्पन्न होने के बाद भगवान के अभिषेक/पूजन करने के भी नम्बर लग रहे हैं। भगवान इन्तजार कर रहे हैं, पर भक्त दिखाई नहीं दे रहे हैं। वही भक्त जो चन्द दिन पहले गाजे-बाजे के साथ उन्हें वेदी में विराजमान करके गये थे; वे ही अब सवैतनिक पुजारियों की व्यवस्था कर रहे हैं। अनेक स्थानों पर तो हमने अपना पहला कर्त्तव्य 'देव पूजा' अजैन पुजारियों के ही भरोसे छोड़ दिया है। यदि यह चिन्ता का विषय न भी हो तो क्या चिन्तनीय विषय भी नहीं है?

जो व्यक्ति (अजैन पुजारी) स्वयं छानकर पानी नहीं पीता, पानी छानकर जीवाणी डालना नहीं जानता, उसके महत्त्व को नहीं समझता, जिसे रात्रिभोजन का त्याग नहीं है, आगम सम्मत शुद्धि-अशुद्धि का विवेक नहीं है; वह किस तरह निर्दोष भगवान का निर्दोष अभिषेक/पूजन करता होगा! यदि उस व्यवस्था में दोष है/पाप है तो उसका पापबन्ध उस पुजारी को होना चाहिए या आलसी समाज को? जो धन की तृष्णा में घर के माता-पिता को नर्स/नौकरों के भरोसे छोड़ रही है और भगवान (पिता), जिनवाणी (माता) को नासमझ पुजारियों के ही, और समाज के साथ-साथ क्या उन प्रेरकों तथा मूकदर्शकों को भी उस दोष का भागीदार नहीं होना चाहिए, जिन्होंने अनावश्यक महोत्सव/स्थापनाओं को प्रोत्साहित किया है।

क्या जो परिवार/व्यक्ति भगवान विराजमान कर रहे हैं, उस परिवार/व्यक्ति को पूजन/स्वाध्याय का नियम नहीं लेना चाहिए? भले ही वह स्वविराजित प्रतिमा की पूजन न कर सके (क्योंकि यह आवश्यक नहीं है); पर कहीं न कहीं तो उसके द्वारा पूजन की ही जानी चाहिए, परन्तु ऐसा हो नहीं रहा। लोग मन्दिर में प्रतिमा विराजमान करने हेतु श्रेष्ठीवर्ग से सम्पर्क करते हैं और

श्रेष्ठीवर्ग भी काले धन को, सफेद पाषाण के माध्यम से पीला (सोना/स्वर्ग-प्राप्ति) करना चाहते हैं; परस्पर में मान-सम्मान ब्याज में मिल ही रहा है, अत: कौन देखे? कौन पूछे? कि जिन भगवान को हमने विराजमान किया है, उनकी विनय होगी या अविनय? मैंने ऐसे अनेक श्रेष्ठियों को देखा है, जिन्होंने मंदिर बनवाये हैं, जगह-जगह भगवान विराजमान किये हैं; परन्तु वे साधन सुलभ होने पर भी अभिषेक/पूजन नहीं करते।

आज की व्यवस्था/अवस्था में यह विचारणीय बिन्दु है कि एक ओर जहाँ आवश्यकतानुसार जिनमंदिर का निर्माण, प्रतिमाओं की स्थापना, पंचकल्याणकों का आयोजन हो; वहीं मात्र कुछ लोगों की भावनाओं की पूर्ति हेतु मंदिरों/जिनप्रतिमाओं की भीड़ न बढ़ाई जाये। साथ ही किस प्रकार गृहस्थ, श्रावक बनकर अपने प्रथम कर्त्तव्य देवपूजा की ओर अग्रसर हों - इसका प्रयास किया जाये।

समाज के प्रबुद्ध जनों से निवेदन करना चाहूँगा कि भगवान के साथ-साथ भक्त बढ़ाने हेतु भी आयोजन करें, रविवार या अन्य अवसरों पर विशेष रूप से सामूहिक पूजन रखें, बालकों को पुरस्कार आदि देकर पूजन/कक्षा हेतु प्रोत्साहित करें, अष्टाह्निका/दशलक्षण आदि पर्वों पर स्थानीय स्तर पर या बाहर से विद्वानों को आमंत्रित कर पूजन/विधान/प्रवचनों के आयोजन करें तो निश्चित ही कुछ लोग प्रेरणा लेकर पूजन/स्वाध्याय आदि के प्रति आकर्षित होंगे। अन्यथा 'बढ़ते भगवान-घटते भक्त' के दौर में कुछ समय बाद सर्वत्र भगवान ही भगवान दिखाई देंगे और भक्तों को ढूँढते रह जायेंगे। **मार्च 2007**

2

बढ़ते स्वाध्याय भवन - घटता स्वाध्याय

आचार्यों ने 'स्वाध्याय: परमं तप:' व 'कलिकाल में जीवन्त तीर्थ जिनवाणी ही शरण है' कहकर स्वाध्याय की महत्ता सिद्ध की है। श्रावकों एवं

मुनिराजों के षडावश्यकों में भी स्वाध्याय को स्थान प्राप्त है; अत: सभी को स्वाध्याय तो अवश्य ही करना चाहिए। स्वाध्याय द्वारा ही लौकिक/पारलौकिक शंकाओं-आशंकाओं का समाधान किया जा सकता है।

कहा भी है – 'ज्ञान ही सर्व समाधान कारक है।'' सामूहिक स्वाध्याय हेतु, स्वाध्याय भवन की भी आवश्यकता है; क्योंकि स्वाध्याय भवन आत्मार्थी की भोजनशाला है, जहाँ आत्मार्थी को आचार्यों द्वारा निर्मित/लिखित विविध जिनवचनरूपी पकवान आत्मरुचि के पोषण हेतु प्राप्त होते हैं।

विविध अवसरों पर देश के अनेक नगरों/ग्रामों में तत्त्वप्रचार हेतु जाने पर, स्वाध्याय सभा की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए भव्य स्वाध्याय भवनों के निर्माण हेतु किये जा रहे प्रयासों का अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ। 25-50 लाख रुपये की लागत से स्वाध्याय भवन बनाने की भावना आम बात हो गई है। इसी हेतु स्थानीय समाज सक्षम न हो तो देश की प्रबुद्ध/समृद्ध समाज से सम्पर्क किया जाता है। अनेक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है, जिसके माध्यम से धनार्जन कर कहीं स्वाध्याय भवन बन चुके हैं, कहीं बन रहे हैं, कहीं बनाने की भावना बना रहे हैं एवं ज्ञानदीप में तेल (धन) डालने/सहयोग करने वाले भी मिल रहे हैं। आवश्यकतानुसार पुण्योदय से प्राप्त धन का इससे अच्छा सदुपयोग हो भी नहीं सकता; अत: सहयोग करना भी चाहिए।

इस पंचम काल में एक ओर जहाँ सारा जगत, भोग-भवनों के निर्माण में रात-दिन लगा हुआ है, ऐसे वातावरण में योग-भवन स्वरूप स्वाध्याय भवनों के निर्माण करने/कराने/अनुमोदना करने वाले उत्साही साधर्मियों को देखकर किस आत्मार्थी का हृदय प्रफुल्लित नहीं होगा। ज्ञानदान के इस महान कार्य की प्रशंसा की ही जानी चाहिए, परन्तु ऐसे वातावरण में समाज का दूसरा चेहरा भी है/दूसरा सत्य भी है जो कि तत्त्व प्रचारकों/प्रभावकों/रसिकों को चिन्तनीय भी है। वह यह कि जहाँ 400-500 भाई-बहिनों के बैठने की क्षमता वाले स्वाध्याय भवन बन चुके हैं/बन

रहे हैं/बनाना चाहते हैं, उनमें से अनेक स्थानों पर 5-7 भाई-बहिन एक समय के लिए भी स्वाध्याय हेतु एकत्र नहीं होते हैं। ऐसा लगता है कि हमें स्वाध्याय भवन बनाने के प्रति जितना प्रेम है; उतना स्वाध्याय के प्रति नहीं है, अथवा स्वाध्याय भवन के अतिरिक्त स्वाध्याय हेतु पर्याप्त मात्रा में जिनवाणी एवं उचित वक्ता की व्यवस्था करने के प्रति रुचि नहीं है।

यदि व्यवस्थापकों से कहा जाये कि आप अपनी समाज में पर्याप्त सुविधायें प्रदान कर विद्वान् रखिये, जो आपको व आपके बालकों को जिनवाणी का रसास्वादन करा सके; तो सभी का जवाब होता है कि 5-7 भाई-बहिन ही तो सुनने आते हैं, उनके लिए 5-7 हजार रुपये प्रतिमाह खर्च करके विद्वान् रखना व्यर्थ है। पर जरा सोचिये कि 5-7 भाई-बहिनों के लिए 50 लाख का भवन बनाना व साल भर भली-भाँति रख-रखाव न कर पाना या रख-रखाव पर प्रति वर्ष लाख-दो लाख रुपये खर्च करना तो हमें उचित लगता है; पर प्रतिदिन दो समय जिनवाणी सुनाने वाले के लिए 5-7 हजार रुपये प्रतिमाह व्यय करना व्यर्थ लगता है। मैंने ऐसे भी स्वाध्याय भवन देखे हैं, जहाँ पर पुस्तकालय ही नहीं है।

जिनवाणी कौन पढ़ेगा? इस शंका के आधार पर जिनमंदिर/स्वाध्याय भवनों में जिनवाणी संग्रह नहीं किया जाता, पुस्तकालय नहीं बनाया जाता। अरे भाई! जिस भवन में स्वाध्याय न किया जाता हो, स्वाध्याय हेतु जिनवाणी न मिल सकती हो, न विराजमान की जाती हो, उस भवन को स्वाध्याय भवन कैसे कहा जा सकता है?

वर्ष में एक बार दशलक्षण पर्व आदि में (कई स्थानों पर तो अनेक वर्षों में एक बार मात्र) काम लेने के लिए स्वयं की राशि खर्च करके या देश की समाज से ज्ञानदान के नाम पर आर्थिक सहयोग लेकर मात्र ईंट-पत्थर का भवन बनाना क्या उचित है? समाज के प्रमुख/प्रबुद्ध महानुभाव एवं समाज के सदस्य स्वाध्याय के महत्त्व को कब समझेंगे? कब नियमित स्वाध्याय हेतु प्रयास करेंगे?

बड़े-बड़े स्थानों पर भी जहाँ 50 लाख (कम से कम) की लागत से मन्दिर या स्वाध्याय भवन का निर्माण हुआ है, उन स्थानों पर भी इतनी राशि के ब्याज मात्र से विद्वान् को रखकर स्वाध्याय कराने का मन नहीं है। यदि वास्तव में ही वहाँ जिनवाणी पढ़ने/सुनने वाले नहीं हैं तो फिर ऐसे स्थानों पर इतने विशाल स्वाध्याय भवनों की क्या आवश्यकता है?

मन्दिर या स्वाध्याय भवनों का निर्माण न हो, हम यह नहीं कहना चाहते; पर इन निर्माणों से पूर्व वहाँ की आवश्यकता/उपयोगिता का भी विचार अवश्य किया जाना चाहिए। स्वाध्याय भवनों में स्वाध्यायी भाई-बहिनों की वृद्धि के प्रयास किए जाने चाहिए और जहाँ निर्माण हो चुका है, वहाँ पर भी समाज के अधिकांश लोग पूजन/स्वाध्याय में भाग लेवें, ऐसा हमारा प्रयास होना चाहिए। यदि यह सब संभव न हो तो इतने खर्चीले निर्माण किये जाना मेरी दृष्टि में धन का दुरुपयोग ही है।

जहाँ स्वाध्यायी/समाज कम है, वहाँ भवनों में राशि लगाने की अपेक्षा शिविर लगाने, स्थायी विद्वान् रखने, छात्रों को छात्रवृत्ति देने, साहित्य प्रकाशन करने, प्राचीन साहित्य के संरक्षण करने, अन्य साधर्मीजनों को आर्थिक सहयोग करने में यदि वह राशि लगाई जावे तो संभवत: अधिक उचित/फलदायी होगा, परन्तु इस प्रबुद्ध समाज के साथ भी कैसी विडम्बना है कि हम भौतिक/अचेतन निर्माण कार्यों में नाम पट्टिका या पुण्य संचय के लोभ में तो पुण्योपार्जित धन का उपयोग करते हैं और वहीं दूसरी ओर समाज में अनेक छात्र धनाभाव में लौकिक/पारलौकिक शिक्षा से वंचित रहते हैं, धनाभाव में चिकित्सकीय सुविधायें प्राप्त नहीं कर पाते। धनाभाव से जो भाई-बहिन शिविरों में नहीं जा सकते, वे स्थानीय स्तर पर विद्वान् के अभाव में यावज्जीवन (जिनवाणी सुनने की रुचि होते हुए भी) जिनवाणी श्रवण से वंचित रह जाते हैं।

वस्तुत: हमें जीवन की प्राथमिकतायें निश्चित कर, अपनी आवश्यकताओं व सामर्थ्य को देखकर ही निर्माण आदि कार्य करना चाहिए।

यदि स्वाध्याय भवन न हो तो भी स्वाध्याय तो किया ही जा सकता है; पर स्वाध्याय भवन तो हो और स्वाध्याय न हो तो उस भवन/दान का क्या औचित्य है?

अगस्त 2007

3

बढ़ती लौकिक शिक्षा – घटते धार्मिक संस्कार

प्रत्येक परिवार में ब्रह्ममुहूर्त में यदि कोई आवाज सुनाई देती है तो वह है 'बच्चो, उठो! होमवर्क नहीं करना क्या? स्कूल के लिए तैयार नहीं होना क्या? फटाफट उठो, तैयार होकर स्कूल जाओ/भागो।'

बालकों के उठने से लेकर सोने तक की दिनचर्या में उठना, मंजन-ब्रश करना, स्नान करना, दूध पीना, नाश्ता करना, विद्यालय जाना, ट्यूशन/कोचिंग जाना, गृहकार्य करना, भोजन करना, थोड़ा-बहुत खेलना और सो जाना, बस। अत्यन्त व्यस्त और व्यवस्थित दिनचर्या द्वारा बालक विद्यालयों में 90 से 99 प्रतिशत तक अंक लाकर विद्यालय/राज्य/देश में प्रथम स्थान कैसे प्राप्त करे, इसका ही प्रयास किया जा रहा है। यहाँ तक कि बालकों के साथ-साथ उनके पाठ्यक्रम को माता-पिता भी पढ़ रहे हैं, ताकि अच्छे अभिभावकों (?) की भाँति आवश्यकता पड़ने पर बालकों को उनका विषय समझा सकें। बच्चा, कैसे भी हो, किसी से पीछे नहीं रहना चाहिए।

बालकों को प्रथम लाने/रखने की चाह ने बालकों सहित माता-पिता को 'रेस का घोड़ा' बना दिया है। जहाँ तेज, और तेज दौड़ने की प्रतिस्पर्धा में कुछ बालक प्रथम आकर सपरिवार अहंकार के शिखर पर स्थापित हो जाते हैं एवं कुछ प्रथम न आ पाने के कारण अवसाद-रोग से ही ग्रस्त नहीं हो जाते हैं, बल्कि कुछ बालक तो आत्महत्या जैसा पाप करके माता-पिता को जीवन भर पछताने के लिए छोड़ जाते हैं।

यदि चतुर्दिक् दृष्टिपात किया जाये तो इसी दिनचर्या व मानसिकता

से ओत-प्रोत परिवार दृष्टिगत होते हैं। सोने से पहले या उठने के बाद णमोकार मंत्र का स्मरण, प्रतिदिन देवदर्शन, अभिवादन में जय-जिनेन्द्र, बड़ों को प्रणाम/चरण स्पर्श, छने पानी का प्रयोग, रात्रिभोजन का निषेध आदि जैसे सामान्य धार्मिक संस्कारों से रहित मेरा बेटा/बेटी चिकित्सक, अभियंता, कुशल प्रबंधक या अन्य कोई उच्च शिक्षा प्राप्त कर नगर से दूरस्थ महाविद्यालयों या संभव हो तो विदेश के विश्वविद्यालयों में अध्ययन करे, ढेर सारा धन एकत्र करे; यही चिंतन रात-दिन प्रत्येक माता-पिता का चल रहा है। यहाँ तक प्रगति हो रही है कि जब सन्तान गर्भ में हो या जन्म हो, तभी से उसे क्या पढ़ाना/क्या बनाना – की चर्चायें व इसी के स्वप्न देखे जाने लगे हैं; तभी तो सन्तानें भी अभिमन्यु बनकर उन माता-पिता के स्वप्नों को साकार करने में अपने जीवन को समर्पित कर स्वयं को विश्व की इस महान प्रतियोगिता का प्रतियोगी बना देती हैं; परन्तु इस प्रतियोगिता के चक्रव्यूह से निकलने का मार्ग तो माता-पिता भी नहीं जानते; अत: वे लोभवश अपने बालकों को भयंकर चक्रव्यूह में फँसा तो देते हैं, परन्तु अंतत: वे स्वयं और अपनी प्यारी-प्यारी सन्तानों को आकुलित होते हुए देखते रह जाते हैं। वे बालक-बालिकायें उस चक्रव्यूह में फँसकर, धन के ढेर में दबकर, जीवन के संध्याकाल में आकुलित-व्याकुलित होकर, धर्म-पिता देवाधिदेव एवं धर्म-माता जिनवाणी से तो दूर रहते ही हैं; यहाँ तक कि वे अपने जन्मदात्री माता-पिता से भी दूर अपने जीवन की इतिश्री कर रहे हैं/करेंगे।

एक ओर लौकिक शिक्षा का बढ़ता दबाव व प्रभाव दिख रहा है, वहीं दूसरी ओर देवदर्शन/पूजन, स्वाध्याय, रात्रि-भोजन त्याग, माता-पिता, समाज-देश के प्रति दायित्व, सदाचारमय जीवन के संस्कारों से दूर होती युवा पीढ़ी, बुजुर्गों के लिए चिन्ता का विषय बन रही है, परन्तु क्या वास्तव में उन बुजुर्गों को यह चिन्ता करने का अधिकार है? क्या यह विषवृक्ष उन्हीं की इच्छापूर्ति व मानपूर्ति के बीजारोपण के कारण नहीं फला/बढ़ा है। यदि उन्होंने बचपन से ही संस्कार दिए होते तो आज पछताने की नौबत ही नहीं आती।

धर्माचरण रहित जीवन, जीवन ही नहीं है। जिस शिक्षा में स्वधर्म के प्रति गौरव नहीं है, उसे जानने/समझने की जिज्ञासा नहीं है, ऐसी शिक्षा कितनी भी उपाधियाँ/पदक/पद दिलाये; पर वह आकुलता को मिटाने में सक्षम नहीं हो सकती; उस शिक्षा से समृद्धि तो आ सकती है, परन्तु संतुष्टि/शान्ति नहीं।

अत: समझदार माता-पिता, बालकों के रिश्तेदारों, भाई-बहिनों को इस गला-काट एवं टाँग-तोड़ प्रतिस्पर्धा के दौर में भी परिवार में सामूहिक रूप से देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी जानकारी, पंच नमस्कार मंत्र आदि का स्मरण, मेरी भावना, वैराग्य पाठ, आलोचना पाठ आदि के पाठ करने एवं समयानुकूल व रुचि के अनुकूल स्वाध्याय करने, शिविरों में जाने का क्रम किसी भी कीमत पर बनाना चाहिए; ताकि शान्ति से रहने/जीने के संस्कार मिल सकें, अपने कर्मोदय से ही सुख-दु:ख प्राप्त होते हैं – यह जान सकें, अन्यथा हम स्वयं के बनाये चक्रव्यूह में फँसकर अन्तत: पछतायेंगे कि काश! इस चक्रव्यूह से निकलने का मार्ग भी जान लिया होता। **फरवरी 2007**

4

बढ़ता प्रदर्शन – घटता दर्शन

भव-भयहारी धार्मिक समारोह/पर्वों का आयोजन अनादिकाल से जैनदर्शन समझने, समझकर अपने वर्तमानकालीन जीवन को सुसंस्कारित कर आगामी अनंत दु:खों का अभाव करने व अनंत सुख को प्राप्त करने की प्रेरणा तथा जैनदर्शन की प्रभावना की भावना से प्रेरित होकर किये जाते रहे हैं।

'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' – जिसके द्वारा आत्मस्वरूप/वस्तुस्वरूप/दु:ख का स्वरूप व कारण/सुख का स्वरूप व कारण देखा जावे/जाना जावे, उसे दर्शन कहते हैं।' दर्शन अर्थात् मत/सिद्धान्त/विचारधारा। 'जिनेन्द्र का मत या विचारधारा (अनेकान्त-स्याद्वाद, अकर्तावाद, वस्तु स्वातंत्र्य) ही

जैनदर्शन है।' जैनदर्शन का समझना/समझाना/ग्रहण करना/प्रचारित करना' समारोहों का प्रयोजन है/होना चाहिए; पर आज समारोहों में से दर्शन गायब हो रहा है, प्रदर्शन हावी हो रहा है।

तथाकथित रूप से समस्त आयोजनों/समारोहों का प्रयोजन जैनदर्शन को बढ़ावा देना ही होता है; पर छुपा हुआ वास्तविक प्रयोजन अपने पद/यश/परम्परा को बढ़ावा देना हो गया है। समारोहों में उद्घाटन, ध्वजारोहण, दीपप्रज्वलन, अनावरण, बोलियाँ, तालियाँ, गायन, नर्तन, समापन, आभार – सब कुछ है; पर दर्शन (सिद्धान्त) कहीं नहीं हैं।

मंच पर 'परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपं अहो ध्वनिः' की लोकोक्ति के अनुसार श्रेष्ठीगण, विद्वज्जन-त्यागियों की एवं विद्वज्जन-त्यागीगण, श्रेष्ठियों की प्रशंसा में आयोजित सम्मान समारोह/अधिवेशन/सम्मेलन आदि में ही अपने वाणीभूषण होने या दानवीर-श्रावक शिरोमणि होने का परिचय दे रहे हैं। नयी-नयी उपाधियाँ ले-देकर ही समारोहों की सार्थकता समझ रहे हैं।

समाज भी समारोह की सफलता दार्शनिक/सैद्धान्तिक चर्चा की उपलब्धि से नहीं, अपितु बाह्याडम्बर से ही आँक रही है। जैसे – कहाँ, कितना बड़ा और बढ़िया पाण्डाल लगा था? कहाँ कितनी भीड़ थी? कहाँ कितनी लाइटें चमक-दमक रही थीं? (भले ही उनमें लाखों जीवों की हिंसा हुई हो) चाय-नाश्ता-भोजन की व्यवस्था बढ़िया और नि:शुल्क थी, आवास व्यवस्था बढ़िया थी। सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम पर बढ़िया नृत्य या कवि सम्मेलन हुआ। बोलियाँ जोरदार लगीं, पैसों की तो मानो बरसात हुई आदि।

समाज द्वारा समारोह की सफलता के जब उक्त मापदण्ड निर्धारित कर लिये गये हों, तब कौन प्रश्न करे कि इस पंचकल्याणक/शिविर/विधान में जैन-दर्शन के उद्घाटक कितने प्रवचन/कक्षायें संचालित हुईं? उन प्रवचनों/कक्षाओं का विषय क्या था? क्या उन प्रवचनों में (यदि हुए हों तो) आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताई गई? सदाचार-श्रावकाचार की प्रेरणा दी

गई? या बोली लगाने वालों की प्रशंसा व बोली लगाने की प्रेरणा में ही इतिश्री हो गई।

समारोहों में घोषित किया जा रहा है कि अमुक विद्वान् वाणीभूषण हैं, अमुक सेठजी दानवीर हैं। जब हम परद्रव्यों के स्वामित्व से ही उक्त उपाधियाँ ग्रहण कर संतुष्ट हो रहे हैं और आज के आनन्द (आस्रव-बन्ध) की जय बोल रहे हैं, तब यह कौन सुने/समझे कि धन व वाणी पर वास्तव में मेरा स्वामित्व ही नहीं है। मैं तो चैतन्यतत्त्व (जीव) हूँ, जबकि वाणी या धन तो पुद्गल (अजीव) है तो उसके कारण मैं (जीव) वाणीभूषण या दानवीर कैसे हो सकता हूँ? कौन स्वीकार करे कि "मैं तन-मन-धन-वाणी-मोह-राग-द्वेष से भिन्न आत्मा हूँ"? जबकि यही दर्शन समझने के लिए समारोह था/होना चाहिए था। **आयोजन में प्रयोजन विस्मृत हो गया।**

समारोहों में कोई सफल आयोजनकर्ता, तो कोई सफल यशस्वी संचालक-उद्घोषक-व्यवस्थापक बनकर मदमस्त हो रहा है। उन्हें जैनदर्शन के ये सिद्धान्त कब और कहाँ सुनने को मिलेंगे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है' 'प्रत्येक कार्य अपनी योग्यता से स्वकाल में ही होता है।' 'हम समारोहों के आयोजक/संचालक/व्यवस्थापक कहे तो जाते हैं; पर वस्तुतः हम मात्र होते हुए कार्य के ज्ञायक हैं।' यह अलग बात है कि भूमिकानुसार (गृहस्थावस्था में) कार्य करने का राग होता है, पर राग से कार्य नहीं होता।'

अकर्तावाद, स्याद्वाद, अपरिग्रहवाद, अहिंसा, वीतरागता, वस्तुस्वातंत्र्य – ये सिद्धान्त जैनदर्शन के प्राण हैं; परन्तु प्रदर्शन के इस बढ़ते दौर में दर्शन के ही प्राण निकल रहे हैं।

जागो! सोचो! विचारो! और स्वीकार करो कि आत्महित, आत्मदर्शन में है, प्रदर्शन में नहीं। यह बढ़ता हुआ प्रदर्शन हमारी आगामी पीढ़ी को जैनदर्शन से बहुत दूर ले जायेगा, जो 'अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मारने जैसा होगा। आयोजन में प्रयोजन को मत भूलो। अस्तु 'जभी जाग जाओ, तभी है सवेरा' अथवा 'जो जाग जाये, उसे ही सवेरा।' 3/2008

5

बढ़ता साहित्य – घटते पाठक...

'स्वाध्याय: परमं तप:' स्वाध्याय को परम तप कहा गया है, क्योंकि स्वाध्याय के बिना पूज्य-अपूज्य, स्व-पर, हित-अहित, ध्याता-ध्येय का ज्ञान ही सम्भव नहीं है। श्रावक व साधु दोनों के ही षडावश्यकों में स्वाध्याय को स्थान दिया गया है अर्थात् श्रावक व साधु दोनों को ही, स्वाध्याय स्व-पर का विवेक प्राप्त करने व स्व में स्थिरता बनाये रखने हेतु आवश्यक है।

'स्व का अध्ययन' अर्थात् अनन्त गुणात्मक भगवान आत्मा को जानना, समझना, उसमें लीन होना ही निश्चय स्वाध्याय है। इसे ही 'परम तप' कहा गया है, जो कि कर्म-पर्वतों को भेदन करने में समर्थ है। स्व को जानने के लिए (आत्महित की मुख्यता से) किया गया शास्त्राध्ययन व्यवहार स्वाध्याय है, जो पापनाशक, पुण्यवर्धक एवं कर्मनाशन में निमित्त है। शास्त्राभ्यास से स्व का परिचय व प्रेम होता है, अत: इसे भी परम तप कहा गया है।

यदि शास्त्राभ्यास में मात्र ज्ञानार्जन, पुण्यवर्धन, सम्मान-प्राप्ति आदि हेतु (लक्ष्य) हों तो वह वस्तुत: स्वाध्याय नहीं है, अध्ययन मात्र ही है; जिस शास्त्राभ्यास में आत्महित/आत्मज्ञान की मुख्यता हो, उसे ही व्यवहार स्वाध्याय समझना चाहिए। आत्महित के लक्ष्य से किए गए स्वाध्याय से भी पापनाशन, पुण्यवर्धन, ज्ञानार्जन, सम्मान प्राप्ति तो होगी ही; पर आत्मार्थी को उससे कोई प्रयोजन नहीं होता/नहीं होना चाहिए।

शास्त्राभ्यास की महिमा/लाभ बताते हुए पं. टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका की पीठिका में लिखा है –

"शास्त्राभ्यास से तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं –

1. क्रोधादि कषायों की मन्दता होती है। 2. पंचेन्द्रियों के विषयों में होने वाली प्रवृत्ति रुकती है। 3. अति चंचल मन भी एकाग्र होता है।

4. हिंसादि पाँच पाप नहीं होते। 5. स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थों का जानना होता है। 6. हेय-उपादेय की पहिचान होती है। 7. आत्मज्ञान के सन्मुख होता है। 8. अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है। 9. लोक में महिमा/यश विशेष होता है। 10. सातिशय पुण्य का बंध होता है।

इतने लाभ प्रदान करने वाले शास्त्राभ्यास हेतु शास्त्रों की महती आवश्यकता होती है; एतदर्थ आचार्यों एवं विद्वानों ने सभी के आत्महितार्थ शास्त्रों की रचना की है एवं यथाशक्ति उनका प्रचार-प्रसार, पठन-पाठन भी हुआ है। मुद्रण तकनीक के विस्तार के साथ आज साहित्य का सृजन व प्रकाशन तीव्र गति के साथ हो रहा है व समस्त लेखकों/प्रकाशकों का प्रयास है कि किसी तरह (अल्प मूल्य, बिना मूल्य, उपहार स्वरूप) साहित्य पाठकों तक पहुँचे। पाठकों तक साहित्य पहुँच भी रहा है।

परन्तु यदि सर्वेक्षण किया जाये तो साहित्य-सृजन, प्रकाशन, विक्रय एवं वितरण तो बहुत हो रहा है (होना भी चाहिए)। शायद कहीं-कहीं तो आवश्यकता से अधिक हो रहा है, पर उस साहित्य के पाठक उस अनुपात में नहीं बढ़ रहे हैं; कहीं-कहीं तो निरन्तर घट रहे हैं।

कुछ लोग नि:शुल्क या अल्प मूल्य में प्राप्त सत्साहित्य को बोझ या अनावश्यक या अविनय न हो, इस भाव से मन्दिरों में वापस भेज रहे हैं या कुछ लोग मात्र बैठक की शोभा बढ़ाने हेतु सजाकर रखे हुए हैं (जिनवाणी विराजमान कर घर की शोभा समझना गलत नहीं है); पर 25 प्रतिशत भाई-बहिन भी उनका अध्ययन नहीं कर रहे हैं। जिनवाणी आराधकों, लेखकों व प्रकाशकों को इस विषय को गम्भीरता से लेकर पाठकों की वृद्धि हेतु प्रयास करना चाहिए।

पहले एक या दो ग्रन्थ गाँवों-नगरों में होते थे एवं रात्रिकालीन स्वाध्याय सभाओं में 25-50 भाई-बहिन बैठकर उन्हें पढ़ा/सुना करते थे।

आज एक-एक स्थान पर 50-50 ग्रन्थ हैं, पर पढ़ने वाले 2-4 हैं। **(साहित्य कम नहीं करना है, पाठक बढ़ाना है।)**

कार्य की व्यस्तता, टी. वी. के बढ़ते प्रभाव, धन-पद की बढ़ती लालसा, सामाजिक वैमनस्य, लौकिक शिक्षा के बढ़ते दबाव, मुनिराजों/विद्वानों के उपदेशों में स्वाध्याय की अपेक्षा अन्य क्रियाकाण्डों को प्रोत्साहन आदि कारणों से स्वाध्याय के प्रति रुचि निरन्तर घट रही है एवं उपेक्षा बढ़ रही है।

स्वाध्याय की इस उपेक्षा का ही परिणाम है कि आधुनिक पीढ़ी जैन सिद्धान्तों/आचार-व्यवहारों से अपरिचित है। अन्ध -विश्वासों या खोखले क्रियाकाण्डों में मस्त है। आत्महित के पंथ न लग कर तेरा पंथ, बीस पंथ के पोषण में ही तन-मन-धन को समर्पित किये हुए है। यदि हम चाहते हैं कि वह जैन सिद्धान्तों व आचारों से परिचित हो, घर-घर में श्रावकाचार का यथोचित पालन/प्रचार हो, मुनिधर्म के प्रति श्रद्धालु/जिज्ञासु श्रावक तैयार हों; तो स्वाध्याय करने की स्वयं को तो प्रतिज्ञा करनी ही चाहिए; साथ ही अपने परिचितों, रिश्तेदारों, परिजनों को भी यथायोग्य रुचि के अनुकूल स्वाध्याय की प्रेरणा करनी चाहिए।

समय की कमी, व्यस्तता आदि कारणों से स्वाध्याय से तो बचा जा सकता है; परन्तु कर्मबन्धन व भविष्य के अनंत दु:खों से नहीं।

वर्तमान में तीर्थंकरों का अभाव है, गुरुओं का भी कभी-कभी ही समागम प्राप्त हो सकता है, पर जिनवाणी माँ सदैव प्रेरणा, मार्गदर्शन देने के लिए तैयार है। सत्य ही कहा है - 'कलि में ग्रन्थ बड़े उपकारी' अथवा 'कलिकाल में जीवन्त तीर्थ जिनवाणी ही शरण है।'

इसलिए बन्धुओ! हार्दिक निवेदन है कि 'प्रमाद में एक क्षण भी मत गँवाओ'। जब भी, जितना भी समय मिले, जिनवाणी का अभ्यास जरूर कीजियेगा।

अप्रैल 2007

6

बढ़ते संगठन - घटता संगठन

'संघे शक्तिः कलौ युगे' इस युग में संगठन में ही शक्ति है। इस यथार्थ को सभी जानते हैं। जैसा कि कहा भी है -

न भवेत् बलमेकेन समवायो बलावहः।
तृणैरेव कृता रप्तजुर्यया नागश्च बध्यते।।

अर्थात् अकेले में बल नहीं होता, समूह/संगठन में ही बल होता है; जैसे कि तिनकों से बनाई गई रस्सी द्वारा हाथी भी बाँध लिया जाता है।

संगठित रहकर अन्यायी/अनीतिवान/दुराचारी जन भी विजयी होते हुए दिखाई देते हैं (कुछ समय को ही सही) एवं नीतिवान/सदाचारी/सज्जन व्यक्ति सत्कार्यों को करते हुए भी असंगठित रहकर पराजित/परेशान होते हुए दृष्टिगत होते हैं। जो कार्य एक व्यक्ति अकेला रह कर अथक परिश्रम/उदात्त भावना के सद्भाव में भी सम्पन्न नहीं कर पाता, वही कार्य संगठित होकर क्षण में पूर्ण किये जा सकते हैं। चाहे सामाजिक कार्य हो या धर्म प्रभावना का। यदि संगठित समाज है तो ही वह कार्य सानन्द सम्पन्न हो सकता है। अकेला व्यक्ति आत्मकल्याण के अतिरिक्त समाज में कुछ भी कार्य करने में सक्षम नहीं है। महापुरुष भी भले ही अकेले चले हों, पर संगठित करने की विशेषता के कारण संगठन बनाकर ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके हैं। अत: सिद्ध है कि संगठन में ही शक्ति है।

जिस देश/समाज में संगठित युवा वर्ग को, अनुभवी प्रौढ़ वर्ग का नेतृत्व प्राप्त हो तो निश्चित ही वह देश/समाज अकल्पनीय उन्नति प्राप्त कर सकता है। संगठन के बिना कोई कार्य संभव नहीं है, इसीलिए समाज में स्थानीय/प्रान्तीय/राष्ट्रीय स्तर पर संगठनों का गठन होता रहा है एवं अनेक ऐतिहासिक, गौरवपूर्ण कार्य उन संगठनों के द्वारा किए गए हैं;

जिनके लिए उन संगठनों के जनकों व नेतृत्व प्रदान करने वालों के प्रति यह समाज ऋणी रहेगा।

उक्त तथ्य सत्य होते हुए भी यदि हम वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें; तो गाँव-गाँव, नगर-नगर में एक नहीं; अनेक संगठन गठित हो रहे हैं; हर वर्ष कोई नये नाम से नया संगठन (बाल/युवा/महिला आदि) गठित हो जाता है; पर उन संगठनों में संगठन कहीं भी नहीं है। अब तो शायद कुछ प्रबुद्ध जनों (?) द्वारा संगठनों के भी संगठन बनाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। (शायद किसी स्तर पर गठित हो भी गया हो तो मुझे पता नहीं है)।

जिधर देखो, उधर ही दल, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के दल-दल में धँस रहे हैं। संगठन व संघ पदपूर्ति/इच्छापूर्ति हेतु परस्पर संघर्ष कर रहे हैं, फैडरेशन राजनीतिक चक्रव्यूह में फँस रहे हैं, समितियाँ सबको अपने में समाकर दूसरों के अस्तित्व को समाप्त करने की कोशिश कर रही हैं। ज्यादातर स्थानों पर अध्यक्ष/मंत्री बनने की होड़ में संगठन गठित हो जाते हैं और फिर एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए कार्य करने लग जाते हैं।

इतने संगठन; पर संगठन कहीं नहीं। सब अपना-अपना राग अलापने, अपनी कमीज की सफेदी (चमक) दूसरे की कमीज से ज्यादा करने/बनाने/बताने में लगे हुए हैं। यदि अपनी कमीज की चमक न बढ़ सके तो दूसरे की कमीज को गंदी करने से भी नहीं चूक रहे हैं।

आवश्यकता है एक विस्तृत नीलाभ नभ में पूर्णता को प्राप्त चन्द्रमा की चाँदनी की भाँति शीतल विचार कणिकाओं के साथ, सबके विचार सुनने, सबको अपनी अभिव्यक्ति प्रदान करने देने की मानसिकता की। संघ/संगठन/फैडरेशन/मण्डल अपने निर्धारित उद्‌देश्यों की पूर्ति हेतु कार्य करें, अन्य के उद्‌देश्यों को दूषित करने या दबाने/फँसाने या दल के उद्‌देश्यों की छाया में अपने प्रयोजनों/प्रलोभनों को पूरा करने की कोशिश न करें।

वस्तुत: आज हम संगठन की अवधारणा को नहीं समझ पा रहे हैं या

अपनी समझ के अनुसार संगठन बना रहे हैं। संगठन कहते किसे हैं? इस संबंध में हमारे मित्र श्री प्रदीप भट्ट ने एक संस्कृत भाषा में निबद्ध परिभाषा प्रदान की, जिसका भाव संगठन के गठन/संचालन करने हेतु अनुकरणीय है।

"समानलक्ष्यं स्वीकृत्य विशिष्टतया कार्यपद्धत्या वैचारिकसिद्धान्तस्य अधिष्ठाने धनपदकीर्त्याद्याकांक्षां बिना सम्भूय कार्यं कुर्वतां समर्पित धन-समय-चित्तानाम्, अनुशासितानाम्, चरित्रसम्पन्नानाम्, कार्यकर्तृणां गण:-रचना-स्नेहबंध: च संघठनम्"।

अर्थात् 'समान लक्ष्य को स्वीकार कर, विशेष कार्यपद्धति से वैचारिक सिद्धान्त के आधार पर धन, पद, कीर्ति आदि की आकांक्षा के बिना, एक साथ कार्य करते हुए धन, समय, चित्त, आदि समर्पित करने वाले, अनुशासित, चरित्र सम्पन्न, कार्यकर्त्ताओं की समूह रचना और स्नेहबंधन को संगठन कहते हैं।'

संगठन का लक्ष्य समाज/देश का समुन्नयन ही होना चाहिए, विघटन नहीं। संगठन यदि किसी निचित पारमार्थिक उद्‌देश्य को लेकर गठित होते हैं एवं वात्सल्य पूर्वक (कार्य स्वयं करो, पर श्रेय सबको दो) कार्य करते हैं तो निश्चित ही संगठन बनना/बनाना सफल है।

संगठन कैसा होना चाहिए, पदाधिकारी व कार्यकर्ता किस भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए - इस संबंध में बाल ब्रह्मचारी सुमतप्रकाशजी ने बहुत विस्तार से लिखा है, उसमें से प्रसंगानुकूल कुछ बिन्दु यहाँ दृष्टव्य हैं:-

1. सभी एक के लिए - एक सभी के लिए - इस भावना से कार्य करें।

2. कार्यकर्ता किसी भी प्रसंग में प्रसन्नता न खोवें।

3. सौजन्यपूर्ण व्यवहार, वात्सल्य, सहानुभूति, संघर्षशीलता ही संघ/संगठन संचालन के मूल मंत्र हैं। मुखिया को यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि सभी कार्यकर्ता एक जैसी प्रतिभा वाले नहीं होते; परन्तु सभी को साथ

लेकर, सहयोग लेकर ही कार्य किया जा सकता है।

4. 'कर्त्तव्य में निरन्तर जागरुक एवं अधिकार परमाणु मात्र पर भी नहीं' – ऐसे विचार रखें।

5. बड़ों का होश (नीति–निर्धारण/मार्गदर्शन) में ही युवाओं का जोश सार्थक होता है।

6. धार्मिक संगठनों के कार्यकर्ता धर्मायतन हैं, अत: परस्पर यथायोग्य आदर करें।

7. कार्यकर्ता एक–दूसरे पर विश्वास करें एवं विश्वसनीय बनें।

8. व्यक्तिगत राजनीति/व्यापार/सामाजिक वैमनस्य आदि से ऊपर उठकर निर्दोष विचारों का सदा सम्मान करें।

9. संगठन, समाज का बोझ वहन करें; बोझ न बनें।

10. अपना सुख बाँटना और दूसरों (अपने साथियों) का दु:ख बँटाना सीखें।

11. कषाय विघटन एवं समझ संगठन का कारण है; अत: कषाय (क्रोध, मान, मायाचारी, लोभ आदि) से बचकर, समझदारी से काम लेवें।

हम चाहते हैं कि चाहे प्रौढ़ हों या युवा सभी संगठित होकर रहें। संगठन, समाज को जोड़ने का काम करें, तोड़ने का नहीं। 'बहुजन हिताय' कार्य करें। स्वार्थसिद्धि या मानपूर्ति या परिवारवाद को हावी रखने की भावना से रहित होकर कार्य करें। कार्य करते हुए यदि कषाय (मतभिन्नता/वाद–विवाद) हो जाये; क्योंकि ऐसा होने की पूरी सम्भावना है, तथापि उसे लम्बायें नहीं; क्षमा माँगकर या क्षमा करके यथाशीघ्र संगठन को गति प्रदान करें। कदाचित् मतभिन्नता हो, तथापि वह मनभिन्नता/खिन्नता का कारण न बने। यदि एक ही स्थान पर अलग–अलग विचारधारा या वर्ग (बाल, युवा आदि) आदि के आधार से संगठन हों तो उनको चाहिए कि परस्पर में संघर्ष न हो, ऐसे सामंजस्य पूर्ण कार्य ही करें। कुछ कार्यक्रम यथा महावीर जयन्ती/

दशलक्षण पर्व आदि सामूहिक रूप से ही आयोजित करें। यदि प्रतियोगिता भी हो तो स्वस्थ मानसिकता, विश्वास, वात्सल्य व धर्म प्रभावना की भावना से हो; तब निश्चित ही हमारे संगठन, समाज को नई दिशा ही नहीं देंगे, अपितु उसे नई ऊँचाइयों तक पहुँचायेंगे। **अलमति विस्तरेण...।**

7

सन्तान को सम्पत्ति ही नहीं सन्मति/संस्कार भी दीजिए...!

एक बहुत पुरानी कहावत है कि –

पूत सपूत तो क्यों धन संचय, अपने आप कमा लेगा।
पूत कपूत तो क्यों धन संचय, एक ही क्षण में गँवा देगा।

अर्थात् यदि पुत्र, सुपुत्र होगा तो वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से ही धन प्राप्त करेगा; आपके द्वारा संचित धन की आवश्यकता उसे नहीं है एवं यदि पुत्र कुपुत्र हुआ तो वह आपके द्वारा संचित धन को व्यसनों में शीघ्र ही नष्ट करके दु:खी ही होगा।

उक्त कहावत में हमारे बुजुर्गों का यही अभिप्राय दिखाई देता है कि संतान को सम्पत्ति देने की अपेक्षा उन्हें सन्मति/संस्कार देकर सुपुत्र/सुपुत्री बनाइये। यदि उनके पास सन्मति/संस्कार/सदाचार हैं, अपनी संस्कृति का गौरव है तो वह स्वपुरुषार्थ से (यदि पुण्योदय है तो) सम्पत्ति प्राप्त कर ही लेगा; कदाचित् दुर्भाग्य से न भी प्राप्त कर सका तो भी आपसे प्राप्त संस्कारों की सम्पत्ति से शान्तिपूर्ण जीवन जियेगा व आपके द्वारा प्रदत्त सन्मति/संस्कारों के कारण आपका यशोगान ही करेगा। अन्यथा सन्मति/संस्कार/सदाचार से रहित सन्तान वर्षों में कमाई सम्पत्ति को कुछ ही दिनों में नष्ट कर देगी एवं आकुलता भोगते हुए आपको ही दोषी सिद्ध करेगी; क्योंकि आपने सुखी होने, शान्ति से जीवन जीने के संस्कार उसे नहीं दिये।

आज अधिकाधिक भाई-बहिन उक्त शिक्षा/कहावत की उपेक्षा करते हुए अपनी सन्तान को मात्र सम्पत्ति अथवा सम्पत्ति प्राप्त करने की शिक्षा देने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान रहे हैं। स्वयं का मकान, घर की दुकान, कुछ बैंक बैलेंस सन्तान को देकर या फिर डॉक्टर, इंजीनियर, सी.ए., एम.बी.ए. आदि की शिक्षा दिलाकर, लाखों रुपये के पैकेज के साथ विदेश यात्रा पर भेजकर अपने को धन्य मान रहे हैं; कुछ समय तक तो 'दूर के ढोल के सुहावने' कहावत की तरह यह सब सुखद लगता है; पर वास्तव में न तो यह सन्तान के लिए सुखद है, न स्वयं के लिए और न समाज के लिए।

हमें चाहिए कि अपनी सन्तान को हम भले ही उच्च लौकिक शिक्षा दिलायें, डॉक्टर, इंजीनियर बनायें, विदेश भेजें, वह धन भी कमाये; पर उसे अपनी संस्कृति/सदाचार/श्रावकाचार से भी परिचित करायें। जिसे अपने जैनधर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान हो, जैन होने का गौरव हो, जो जैनाचार से परिचित हो, जिसके हृदय में महापुरुषों के प्रति भक्ति हो तो वह कभी भी कुमार्ग पर नहीं जायेगा; अपने समाज, परिवार के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं, उन्हें विस्मृत नहीं करेगा; अत: हमें बचपन से (या जिस उम्र में अभी है) एवं घर से ही धार्मिक संस्कार देना चाहिए। (कदाचित् वह श्रावकाचार का पालन करने में कुछ समय के लिए असमर्थ हो, तब भी ज्ञान तो होना ही चाहिए।)

क्या और कैसे संस्कार दिये जाने चाहिए? सुझाव स्वरूप कुछ संस्कारों को हम उल्लिखित कर रहे हैं। इतना ही करना चाहिए ऐसा अभिप्राय नहीं है, पर कम से कम इतना तो करने का प्रयास करना ही चाहिए -

1. हमें परस्पर अभिवादन में गुड मॉर्निंग, हाय, हैलो के स्थान पर जय-जिनेन्द्र बोलना चाहिए।

2. प्रात:काल घर में पूजन, भक्तामर, बारह भावना, भजन आदि की सी.डी./कैसेट्स चलाकर घर का वातावरण धर्ममय/अध्यात्ममय/भक्तिमय बनाना चाहिए।

3. आपके माता-पिता साथ में रहते हों तो आप स्वयं उनसे प्रणाम/जय जिनेन्द्र करें, ताकि आपके बालक भी दादा-दादी आदि के प्रति विनम्र बनने, बड़ों का आदर करने के संस्कार ले सकें।

4. आपके बालक-बालिकायें यदि दादा-दादी की किसी बात की अवमानना करें या अनसुना करें तो उन्हें प्यार से उनकी बात मानने/सुनने को कहना चाहिए।

5. मन्दिर या घर में आलोचना पाठ, सामायिक पाठ, मेरी भावना, कुन्दकुन्द शतक, अमूल्य तत्त्व विचार, बारह भावना आदि का प्रतिदिन या अवकाश के दिन शान्तिपूर्वक पाठ करें व यथासम्भव अर्थ भी समझावें।

6. यदि प्रतिदिन सम्भव न हो तो रविवार, अन्य अवकाश के दिन, अष्टमी-चतुर्दशी, अष्टाह्निका-दशलक्षण पर्व के दिनों में बालकों को रात्रिभोजन न करायें, घर पर विधिवत् छना पानी पीने की प्रेरणा देवें/दिलावें। ये संस्कार उन्हें भविष्य में रात्रिभोजन व बिना छने पानी के त्याग करने का अवसर प्रदान करेंगे।

7. देव-शास्त्र-गुरु, त्यागीवर्ग, विद्वज्जनों एवं साधर्मियों के प्रति विनम्रता का भाव सिखायें।

8. ग्रीष्मावकाशों में आयोजित धार्मिक शिविरों में बालकों को जरूर भेजें।

9. यदि आपके आस-पास शिविर न लगते हों तो आप स्वयं ही वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप, जैनधर्म की विशेषतायें, महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़कर सुनायें।

10. प्रतिदिन संभव न हो तो रविवार को सपरिवार मन्दिर में पूजन करें; देवदर्शन/पूजन का महत्त्व बतायें। यथा - 'जिनमन्दिर जाने/पूजन करने से हम पापों से बचते हैं, शुभभाव होने से पुण्यबंध होता है, पुण्योदय से शिक्षा, धन, पद, अनुकूलता की प्राप्ति होती है; इसी अनुकूलता में धर्मसाधन कर हम पूज्यत्व को भी प्राप्त कर सकते हैं।' (ज्यादातर माता-पिता, ऐसा

मानकर कि बच्चे पढ़ते हैं, अत: अवकाश के दिन तो दिनचर्या अलग होनी चाहिए; इसलिए देर तक सोना, बिस्तर पर ही चाय-नाश्ता कर लेना, शाम को घूमने जाना और रात्रि में कहीं भी भोजन करना - दिनचर्या बदलना माने हुए हैं; पर आप रोजाना दर्शन-पूजन-स्वाध्याय नहीं करते थे तो क्या अवकाश के दिन यह सब करना भी दिनचर्या बदलना नहीं कहलायेगा।)

11. बालकों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने, धन प्राप्त करने हेतु प्रेरित करते समय उन्हें यह बात अवश्य एवं बारम्बार बतायें कि 'बेटा! आप परिश्रम करें पर इस बात का अवश्य ध्यान रखें कि समय से पहले और भाग्य से अधिक कभी भी, किसी को, कुछ नहीं मिलता। जितना और जैसा पुण्य का उदय होगा, उतना और वैसा ही फल मिलेगा। संयोग (धन, नौकरी, परिवार आदि) भाग्याधीन हैं, पुरुषार्थाधीन नहीं; धर्म पुरुषार्थाधीन है, भाग्याधीन नहीं।' यदि ऐसे संस्कार दिये जाते हैं तो बालक सफलता मिलने पर अहंकार नहीं करेगा और असफल होने पर चिन्ता/अवसाद ग्रस्त नहीं होगा।

12. बालकों को अन्याय से बचकर, न्याय-नीति व परिश्रम पूर्वक व्यापार एवं नौकरी करने की शिक्षा दें, उनको बतायें कि पाप करने, मिलावट करने या अनीति से धन नहीं मिलता। इनसे तो पाप ही बँधता है, अशान्ति ही मिलती है। धन तो पुण्योदय से प्राप्त होता है। पुण्योदय पुण्य करने से आयेगा पाप करने से नहीं। भ्रष्टाचार व अंधविश्वासों से दूर रहने की प्रेरणा दें। ऐसा ही आप स्वयं स्वीकार करें व बालकों को शिक्षा देवें।

13. बालकों को बतायें कि जैनधर्म शाश्वत धर्म है, हम महान पुण्योदय से जैन हुए हैं। जैनाचार पूर्णत: वैज्ञानिक व अहिंसक जीवन शैली है, जो दयाधर्म के पालन के साथ-साथ स्वास्थ्यरक्षक व धनरक्षक भी है।

14. हमारे सुख-दु:ख का कारण अन्य कोई नहीं है, हमारा कर्मोदय ही है। हम अपनी भूल से दु:खी हैं; अत: अपनी भूल स्वीकार करने व सुधारने की शिक्षा देवें।

15. बालकों में भेद-ज्ञान करने अर्थात् अच्छे-बुरे, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, गुण-दोष, हेय-उपादेय, स्व-पर, पूज्य-अपूज्य का ज्ञान करने में सक्षम बनायें।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बालक सुनकर कम, देखकर ज्यादा ग्रहण करते हैं; अत: यदि वे आपके जीवन को सुसंस्कारित देखेंगे तो अधिक ग्रहण करेंगे, इसलिए आप अपने जीवन को श्रावकाचार से सुरभित करने का प्रयास करें।

कम से कम उक्त बातों का ज्ञान अपनी संतान को करावें। ऐसा न सोचें कि ये सब बातें वे अभी अपने जीवन में उतार नहीं पायेंगे; अत: अभी से क्यों बतायें? क्या पाँच वर्ष का बालक डॉक्टर/इंजीनियर बन सकता है? नहीं। फिर भी आप बच्चे को, तुझे डॉक्टर/इंजीनियर बनना है, आदि सिखाते हैं या नहीं; अत: जीवन में वह बालक अपनी योग्यतानुसार समय आने पर परिस्थितियों के अनुसार जितना संभव होगा, उतार लेंगे; पर आपके लिए ज्ञान कराने का समय यही है; ज्ञान होगा तो कभी न कभी वे जीवन में भी उतार ही लेंगे और ज्ञान ही नहीं होगा तो जीवन में कैसे उतार पायेंगे।

ध्यान रहे, 'धन लौकिक जीवन के लिए बहुत कुछ हो सकता है, परन्तु सब कुछ नहीं। जीवन के लिए धन है, धन के लिए जीवन नहीं; अत: धर्म छोड़कर धन कमाने में जीवन गँवाने की शिक्षा मत दो। वास्तविक शान्ति धर्म से प्राप्त होती है, धन से नहीं। धर्म जीवन के लिए सब कुछ है। अरे! सब कुछ क्या, धर्ममय जीवन ही जीवन है; धर्म से रहित जीव को तो आचार्यों ने चलता-फिरता मुर्दा कहा है।' अत: धर्म को समझने हेतु, अपनी संतान को सन्मति/सम्यग्ज्ञान प्रदान करने के लिए अभी पूरा जीवन नहीं तो कुछ समय तो अवश्य दीजिए। अन्यथा चिड़िया खेत चुग जायेगी और हम पछताते रहेंगे, हाथ मलते रहेंगे; पर समय लौटकर नहीं आयेगा। अत: हमारा निवेदन है कि आप संतान को सम्पत्ति ही नहीं - सन्मति/संस्कार भी दीजिए। **मई 2007**

8

कौन कहता है, भगवान भरोसे गाड़ी नहीं चलती...??

''जिनेन्द्र भगवान जगत के कर्त्ता-धर्ता-हर्ता नहीं हैं, मात्र ज्ञाता हैं। वे संसार के परिणमन के ज्ञायक/ज्ञापक हैं, कारक नहीं। जिनेन्द्र भगवान किसी के सुख-दुःख के कर्ता नहीं हैं, किसी भी कार्य को बनाने/बचाने/सम्हालने वाले नहीं; मात्र वीतरागी/निःस्पृह/निरपेक्ष रहकर दर्पण की भाँति जानने वाले हैं।''

उक्त भावों से परिपूर्ण वचनों को यत्र-तत्र शास्त्रों में पढ़ा/सुना है। अवसर आने पर उक्त भावों को ही जिनागम के अनुसार सभाओं में स्पष्ट भी किया है/करते हैं। लोग भी बड़े चाव से ऐसे प्रवचनों को सुनते हैं। परन्तु प्रवचन समापन के बाद समाज/लोगों की भावनाओं को देखने पर कभी-कभी ऐसा लगने लगता है कि कहीं शास्त्र के वचन गलत तो नहीं हैं या समझने में गलती तो नहीं हो रही है।

आज सैकड़ों ऐसे उदाहरण दिख रहे हैं, जिनमें समाज की भावना/विचार स्पष्ट दिख रहे हैं कि मानो भगवान की दया से ही बिगड़े हुए काम बन रहे हैं। विद्वज्जन व श्रेष्ठीगण भगवान का सहारा लेकर सामाजिक/धार्मिक कार्यों को पूर्ण करने भगवान के पास जाते हैं या भगवान को लाते/विराजमान करते हैं और असंभव-से दिखने वाले करोड़ों के काम सहजता से हो जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान को तुमने/हमने कभी देखा है। अरे भाई साहब! मैंने प्रत्यक्ष भगवान व उनके चमत्कार को तो नहीं देखा, पर उनके प्रतिबिम्ब के चमत्कारों से ही इतना प्रभावित हो रहा हूँ कि मैं पढ़े/सुने/सुनाये सिद्धान्तों के प्रति अपनी श्रद्धा बदलने का मानस बना रहा हूँ।

'क्या बात करते हो भाई! भगवान भरोसे काम हो रहे हैं, इसका कोई प्रमाण है?' 'अरे एक प्रमाण नहीं, अनेक प्रमाण गाँव-गाँव, नगर-नगर में इस मानसिकता के दिख रहे हैं। एक-दो उदाहरण प्रस्तुत हैं -

एक गाँव में गरीबों के इलाज के लिए अस्पताल की आवश्यकता थी। इस कार्य से समाज की और समाज के कुछ महानुभावों की प्रतिष्ठा जुड़ी हुई थी, पर यह योजना धन के अभाव में पूरी ही नहीं हो पा रही थी। काम अटके वर्षों हो चुके थे। क्या करें, लोगों को समझ नहीं आ रहा था।

तब किसी धर्मात्मा ने सलाह दी - 'यहाँ एक चिन्तामणि पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवा दो, भगवान की कृपा से (भगवान/मन्दिर के नाम पर लोग पैसे देंगे) तुम्हारी अस्पताल का काम पूरा हो जायेगा।' बात मान ली गई। लोगों ने भेंटकर्ता, विराजमानकर्ता, वेदी निर्माता के रूप में लाखों रुपये दिये, मन्दिर भी बन गया, अस्पताल भी। साथ ही प्रतिष्ठित लोग और भी प्रतिष्ठित हो गए।

एक अन्य स्थान पर कुछ बुद्धिजीवियों ने विचार बनाया कि छात्रों को धार्मिक संस्कारों के साथ उच्च शिक्षा उपलब्ध कराई जाये तो सामाजिक वातावरण सुधरेगा एवं निर्धन छात्रों को भी लाभ होगा। एतदर्थ एक छात्रावास बनाया जाये। कार्य आरम्भ हो गया, पर छात्रों के भविष्य निर्माण में समाज के श्रीमन्तों की रुचि कम दिखी। आर्थिक सहयोग के अभाव में काम अटक गया। छात्रावास की छत तो डल गई, पर रहने लायक कमरे बनाने व छात्रों पर व्यय की जाने वाली राशि की व्यवस्था, विविध प्रचार/प्रसार/प्रयास करने पर भी नहीं हो पा रही थी। तब किसी अति बुद्धिजीवी/अनुभवी साधर्मी भाई ने आकर सलाह दी - 'छात्रावास परिसर में चौबीसी विराजमान करा लो। भगवान की प्रतिष्ठा हो जायेगी, अपनी भी प्रतिष्ठा बढ़ जायेगी और आपका छात्रावास तो बन ही जायेगा।' छात्रावास संचालकों ने कहा - 'अरे भाई! छात्रावास निर्माण और संचालन के लिए ही पैसे एकत्र नहीं हो रहे हैं तो फिर मंदिर निर्माण कैसे होगा?'

उन अनुभवी भाई साहब ने अपने सफेद बालों का हवाला देते हुए, समझाते हुए कहा – 'अरे भाई साहब! समझते नहीं हो, भगवान भरोसे गाड़ी बड़ी तेज चलती है। आप चौबीसी निर्माण की घोषणा तो करो। एक-एक भगवान चार-पाँच लाख रुपये तो लायेंगे ही। शिलान्यास, वेदी, कलश और पंचकल्याणक की आमदनी अलग। इस तरह कम से कम दो करोड़ एकत्र हो जायेंगे। एक करोड़ खर्च करना, एक करोड़ की बचत। आराम से चलाना छात्रावास।' उन अनुभवी की बात सबकी समझ में आ गई। मन्दिर बन गया, भगवान विराजमान हो गए। छात्रावास भी जोरदार चल रहा है । सभी बुद्धिजीवी कह रहे हैं – 'कुछ भी कहो यार! पर भगवान भरोसे ही गाड़ी चलती है। भगवान की दयादृष्टि हो जाये तो बिगड़े काम भी बन जाते हैं।'

इस तरह जगह-जगह समाज में इसी मान्यता के आधार पर अत्यावश्यक व अत्यन्तोपयोगी धर्मशाला, स्वाध्याय भवन व अन्य कार्य भी भगवान भरोसे हो रहे हैं। भगवान विराजमान हो रहे हैं, चाहे उनका प्रक्षालन करने वाले भी मिलें या न मिलें, पर काम तो हो ही रहे हैं। 'सबके तारणहार, हमारे वीतरागी भगवान' – ये मान्यतायें समाज में दृढ़ हो रही हैं।

यह सब देखकर ही मेरा मन कर रहा है कि क्यों न मैं भी उन पुरातन सिद्धान्तों की श्रद्धा बदलकर कि 'भगवान मात्र ज्ञाता हैं, कर्ता-हर्ता नहीं' अपना मन्तव्य बदल लूँ और समाज के अनुसार स्वीकार कर लूँ कि भगवान भरोसे ही गाड़ी चलती है; परन्तु भयभीत हूँ/असमंजस में हूँ; क्या वीतराग-सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान की वाणी व निर्ग्रन्थ/निःस्पृह आचार्यों की लेखनी गलत हो सकती है? कहीं हमारा ही आचार/विचार तो दूषित नहीं हो रहा है? कहीं समाज की ही मानसिकता तो नहीं जिनवाणी के विरुद्ध जनवाणी के अनुसार हो रही है? अकर्तावादी दर्शन कर्तावाद की ओर तो नहीं जा रहा है? अपरिग्रही भगवान को परिग्रह संग्राहक के रूप में तो नहीं स्थापित किया जा रहा है?

अगर आपको कुछ समाधान नजर आवे तो सूचित कीजियेगा।

जनवरी 2009

9

क्या हम पुण्यशाली हैं?

लोक में हम सब परस्पर, संयोगों (भोग-सामग्री) की बहुतायत देखकर एक-दूसरे को पुण्यशाली/भाग्यशाली कहते रहते हैं। जिसके पास भी कार, बंगला देखा – 'अरे! यह तो बड़ा पुण्यशाली है।' घर में सुन्दर पत्नी-पुत्र को देखा – 'अरे! भाई साहब तो बड़े भाग्यशाली/पुण्यशाली हैं।' किसी की उच्च सेवा (नौकरी), घर में टी.वी. फ्रिज, एयरकंडीशनर आदि के साधन देखते ही हम उसे पुण्यशाली ही नहीं, महान पुण्यशाली घोषित करते हैं।

यहाँ विचारणीय यह है कि हम भगवान महावीर स्वामी के अकर्तावादी, स्याद्वादी, अपरिग्रही, वीतरागी, मंगलमय-मंगलकरण जिनधर्म को पाकर पुण्यशाली हैं या उक्त संयोगों के कारण। (यह अलग बात है कि अनुकूल संयोग पुण्योदय से प्राप्त होते हैं, पर हम पुण्योदय से पुण्यशाली हैं या शुभ/पुण्यभावों से) क्या हम जैन भी मात्र संयोगों से ही स्वयं को व अन्य को भी पुण्यशाली समझते हैं? क्या हम भी मात्र भोग सामग्री की प्राप्ति को पुण्योदय समझते हैं? यह विचारणीय है।

हमें स्वयं को व अन्य को पुण्यात्मा/पुण्यशाली/भाग्यशाली, कहने/समझने/स्वीकार करने से पूर्व पुण्य का वास्तविक अर्थ समझना चाहिए।

वस्तुत: पुण्य किसे कहते हैं?

इस संबंध में आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में लिखते हैं – 'जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है।' जिन परिणामों से आत्मा पवित्र होता है, उन्हें पुण्य कहा गया है; और जो ऐसे परिणामों से संयुक्त हों, उन्हें पुण्यात्मा कहा जा सकता है।

अथवा पद्मनंदि पंचविंशतिका में आचार्य पद्मनंदि लिखते हैं – दान-पूजा, षडावश्यकादि रूप जीव के शुभ परिणाम भाव पुण्य हैं। जो

देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान षडावश्यकों रूप निरन्तर प्रवर्तित होते हैं, उन्हें पुण्यशाली कहा जा सकता है। छहढाला में तो जो मुनिराज भव-भोगों से विरक्त हुए हैं; उन्हें ही बड़भागी-महाभाग्यशाली कहा है। असंयम एवं असंयम के साधनों की उपलब्धता होना पुण्य/भाग्य नहीं है; अपितु संयम व संयम के निमित्तों की प्राप्ति, आत्मज्ञान के संयोगों की प्राप्ति होना ही इस मानव जीवन का सर्वोत्तम पुण्योदय है।

हम अपने मित्रों, परिचितों या संतान को बाह्य संयोगों को लक्ष्यगत करते ही पुण्यशाली कहते/मानते हैं, पर विचारणीय यह है कि क्या यह मकान, दुकान, लाखों का बैंक बैंलेंस, गाड़ी, एयरकंडीशनर, सोना-चाँदी, लौकिक शिक्षा आत्मा को पवित्र करने वाले, शान्ति देने वाले हैं या आकुलता/अशान्ति/विचारों में अपवित्रता लाने वाले हैं; यदि ये आकुलता/अपवित्रता के कारण हैं तो ये पुण्य नहीं कहे जा सकते, तो फिर हम इनके संयोग से पुण्यशाली कैसे हो सकते हैं?

भोगसामग्री पुण्य का पर्यायवाची नहीं है, जो हम भोगसामग्री से स्वयं को या अन्य को पुण्यशाली समझें। भोग सामग्री तो परिग्रह नामक पाप है एवं उसमें आनंद मानना परिग्रहानंदी रौद्रध्यान है। परिग्रह पाप और परिग्रहानंदी रौद्र-ध्यान दोनों ही नरकायु के कारण हैं। जो नरकायु का कारण हो, उसे पुण्य एवं नरकायु बाँधने की तैयारी करनेवाले को पुण्यशाली कैसे कहा जा सकता है?

भगवती आराधना में कहा है - 'जिससे इष्ट सामग्री की प्राप्ति हो, ऐसे कर्म को द्रव्य पुण्य कहा जाता है एवं जो इष्ट सामग्री को धर्मप्रभावना/परोपकार में लगाता है, उसे पुण्यशाली/पुण्यवान कहा जाता है। वह उस भोग सामग्री के कारण नहीं, अपितु जो दानादि में धन का उपयोग करने का भाव हुआ है, उससे पुण्य/भाग्यशाली है।

जैसा कि दशलक्षण पूजन में कविवर द्यानतरायजी लिखते हैं -

'बहु धन बुरा हू भला कहिए, लीन पर उपगार सों।'

अतः हमें विचार करना चाहिए कि हमें मनुष्य गति, जैनकुल, जिनधर्म, नीरोगता, इष्ट आजीविका आदि की प्राप्ति हुई है; ऐसी परिस्थिति में हम इसका सदुपयोग करते हुए धर्माराधन करें। इष्ट सामग्री की प्राप्ति से कदाचित् पुण्यशाली हैं; पर हम जिनधर्म, सदाचार, श्रावकाचार, वीतरागी देव, नग्न दिगम्बर गुरु एवं वीतरागता पोषक जिनवाणी पाकर महापुण्यशाली हैं। देव-शास्त्र-गुरु की आराधना, स्वाध्याय, संयम में लगने वाला परिणाम ही पुण्य है। जिसके इन परिणामों की अधिकता है, वस्तुतः वही पुण्यशाली है। जिनके मात्र इष्ट/भोग/पाप सामग्री का संयोग है, उनके पूर्वकृत पुण्य का उदय तो है; क्योंकि जो संयोगों की प्राप्ति हुई है, वह पुण्योदय से ही हुई है, परिश्रम से नहीं (इस अपेक्षा कोई पुण्यशाली कहे तो कहे); पर वर्तमान में भोग और भोग के ही निरन्तर परिणाम चलने से पाप परिणाम व पाप का बंध चल रहा है; अतः उसे पुण्यशाली कहना भ्रम में रखना/रहना है।

हम अपनी संतान, परिचितों एवं स्वयं को वर्तमान पवित्रता के योग्य परिणामों से पुण्यशाली बनायें/बतायें/प्रेरित करें तो हमारा मानव तन व जिनधर्म प्राप्त करना सार्थक होगा। **अगस्त 2008**

10

चमत्कार को नमस्कार या नमस्कार में चमत्कार

अनेकानेक महान अतिशयों से संयुक्त अर्हन्त भगवान को भी दिगम्बराचार्य समन्तभद्र (सम्पूर्ण आचार्य परम्परा ही) ने उनके अतिशयों से उन्हें नमन नहीं किया। वे कहते हैं - 'आकाशगमनादि अतिशय तो मायावियों के भी देखे जा सकते हैं; आप इनके कारण महान/पूज्य नहीं हैं, अपितु आपकी निर्दोषता (वीतरागता, 18 दोषों से रहित) सर्वज्ञता एवं अविरोधी शुद्धात्मपोषक जगत हितकारी वाणी के कारण ही हम आपको नमस्कार करते हैं।' ऐसे आचार्य चमत्कार को नमस्कार नहीं करते; अपितु जहाँ नमस्कार

करते हैं, वहाँ चमत्कार हो जाता है। (उनके नमस्कार करने से शिवलिंग में से चन्द्रप्रभ भगवान प्रगट हुए थे।)

जैनदर्शन में वस्तुत: लौकिक चमत्कारों को कोई स्थान ही नहीं है अर्थात् कदाचित् कोई पुण्योदय से देवोपुनीत चमत्कार हो भी जाये, पर वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु व वीतरागता की पोषक वाणी का उपासक जन्म-जरा-मृत्यु से पीड़ित, मुक्ति का अभिलाषी श्रावक उन चमत्कारों से चमत्कृत नहीं होता; न ही किसी चमत्कार की आशा रखता है। कदाचित् प्रतिकूल परिस्थितियाँ बन जायें तो भी उद्वेलित नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण पुरुषार्थ उस नमस्कार हेतु करता है, जिसमें सम्यक्त्व प्राप्तिरूप चमत्कार हो जाता है, जिससे प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूलवत् भासित होने लगती हैं अर्थात् सभी परिस्थितियों में समभाव जागृत हो जाता है।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु-धर्म का सम्यक् स्वरूप समझकर एकमात्र आत्महित के लक्ष्यपूर्वक किये गये नमस्कार से ऐसा चमत्कार होता है कि चिरकाल से चला आया गृहीत मिथ्यात्व समाप्त हो जाता है और उन्हीं देव-शास्त्र-गुरु द्वारा प्रतिपादित आत्मा की ओर झुकने से, नमस्कार करने (स्वानुभूति) से अनादिकालीन संसार के प्रमुख कारण अगृहीत मिथ्यात्व का भी अभाव हो जाता है। संसारमार्गी से मोक्षमार्गी, बहिरात्मा से अन्तरात्मा बन जाता है, जिनेन्द्रदेव का लघुनंदन कहलाने लगता है। इससे बड़ा चमत्कार और क्या होगा?

देव-शास्त्र-गुरु से या मन्त्र-तन्त्र आदि के माध्यम से लौकिक इष्ट सामग्री की प्राप्ति व अनिष्ट संयोगों के अभावों के चमत्कार हेतु किया गया नमस्कार तो नासमझी के कारण ही होता है। हम सुदेव-कुदेव, सुगुरु-कुगुरु, सुधर्म-कुधर्म का भेदज्ञान किये बिना ही चमत्कारों की अभिलाषा में देखा-देखी - सुना-सुनी नमस्कार करते हैं, वह तो गृहीत मिथ्यात्व (वैनयिक) है।

हम परम पूज्य समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के

पाठक, उनके द्वारा प्रतिपादित श्रावकाचार के अनुसार तथाकथित जीवनयापन कर श्रावक कहलाने वाले, चमत्कार को नमस्कार करने में उलझ गये हैं और जो ज्यादा समझदार कहलाते हैं, वे इन्हीं चमत्कारों में उलझाने लगे हैं; परन्तु ज्ञानीजन तो कहते हैं -

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नम:।।

''अज्ञान (कुरीति, मिथ्याभाव, अन्धविश्वास) से अन्धे जीवों को ज्ञानांजनरूपी शलाका (वस्तु का यथार्थ स्वरूप, सच्ची समझ) द्वारा नेत्र खोल दिए हैं जिन्होंने; ऐसे गुरु को हमारा नमस्कार हो।''

यहाँ आँख खोलने वाले अर्थात् मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर पहुँचाने वाले, संसारमार्ग से मोक्षमार्ग में स्थापित करने वाले, राग से वीतरागता, असंयम से संयम में स्थापित करने वाले गुरु को नमस्कार किया गया है। जो मोह-राग-द्वेष से तो अनादि से ही अन्धे हैं और यदि लौकिक चमत्कारों के द्वारा हमारे राग-द्वेष को किसी और ने या हमने स्वयं ने मजबूत किया तो इसे मनुष्यभव, जैनकुल की हार ही मानना चाहिए।

इस अवसर पर दौलतरामजी की पंक्तियाँ स्मरणीय हैं -

'यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवो जिनवाणी।
इह विधि गए न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी।।'

अत: हम मनुष्यभव, जैनकुल व जिनवाणी की कीमत पहचानें एवं चमत्कारों को नमस्कार नहीं, अपितु अपने नमस्कार में वह चमत्कार पैदा करें कि गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्त्व हो जाये, संसारमार्ग से मोक्षमार्ग, असंयम से संयम, राग से वीतरागता में स्थापित हो जायें। यदि ऐसा हुआ तो हमारे अनादिकालीन जीवन का प्रथम चमत्कारिक नमस्कार होगा।

नवम्बर 2007

11
आधुनिक आत्मिक रोग – त्वरा (शीघ्रता)

अनादिकाल से मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव जन्म-जरा-मृत्यु के त्रिरोग से ग्रस्त है, इसका उपचार भी करता है, पर सम्यक् निदान न होने से, रोग के कारण की पहचान न होने से रोग नष्ट तो नहीं होता, अपितु निरन्तर वृद्धिंगत हो रहा है और अनन्त आकुलता का कारण बन रहा है।

सम्यक् निदान न होने से उसके उपचार भी रोग का रूप ग्रहण कर लेते हैं। वर्तमान में भी हम अपने दु:खों/कष्टों के अभाव हेतु संयोगों को और पर की जानकारी एकत्र करने के लिए जो/जैसे/जिस गति से उपाय कर रहे हैं, वह भी एक आत्मिक/मानसिक रोग का रूप ले रहा है। वह आधुनिक आत्मिक रोग है – त्वरा। प्रत्येक जीव इस रोग से ग्रस्त दिखाई दे रहा है।

'त्वरा' का अर्थ है – शीघ्रता। प्रत्येक जीव शीघ्रता में है। चल नहीं रहा है, दौड़ रहा है, भाग रहा है। इस आकांक्षा में कि जो भी सुख (काल्पनिक) सामग्री है, वह मुझे ही मिल जाये। मिल ही न जाये। अति शीघ्र मिल जाये; ताकि मैं ही उनका मालिक बन सकूँ, मैं ही पूर्ण सुखी हो सकूँ; पर उस कल्पित सुख-सामग्री का प्राप्त होना तो कर्माधीन है, जीव के पुरुषार्थाधीन नहीं; अत: जब वह सामग्री नहीं मिलती, तब और अधिक आकुलित होता है तथा सामग्री की अप्राप्ति का कारण गति की मंदता मानकर और तेज दौड़ने लग जाता है। यदि पुण्योदय से सामग्री की प्राप्ति हो भी जाये तो वह वास्तविक सुख सामग्री तो है नहीं, पर उसकी प्राप्ति व भोगने की त्वरा और अधिक आकुलता प्रदान करती है।

जहाँ हमारे क्षेत्र परिवर्तन/भ्रमण की त्वरा ने, पदयात्रा से बैलगाड़ी, साइकिल, मोटर-साइकिल, वायुयान और जेटयान तक के आविष्कार का परिश्रम कराया है, वहीं संगणक व अन्य सुख-सुविधाओं की त्वरा ने

केल्क्युलेटर, कम्प्यूटर से लेकर सुपर कम्प्यूटर तक का आविष्कार कराया है और अभी भी नित नूतन प्रयास हो रहा है। इतना होने पर भी क्या हम उस सुख क्षेत्र या सुख सामग्री तक पहुँच सके हैं? या और अधिक आकुलता/प्रदूषण व खतरे से ग्रस्त हुए हैं।

हमें पर को जानने की त्वरा है; एतदर्थ हमने पत्र, तार, फोन और मोबाइल तक तथा रेडियो से लेकर टी.वी. और टी.वी. के सैकड़ों चैनल्स के आविष्कार किये हैं, पर इन सबने ज्ञेयलुब्धता (पर को जानने के लोभ) को समाप्त नहीं किया, बल्कि बढ़ाया ही है। हम स्वयं अनुभव कर रहे होंगे कि यह मोबाइल और टी.वी के विविध चैनल्स भले ही कुछ लौकिक सुख-सुविधा में सहभागी बनते हों, पर वस्तुत: वे हमारी शान्ति भंग करने वाले ही हैं। ये सब साधन पर को अपने पास लाने/जानने में सहायक हो सकते हैं, परन्तु ये सब अपने से अपने को दूर ही ले जाने वाले हैं, भटकाने वाले हैं, आकुलता/टेंशन ही देने वाले हैं।

जिस क्षेत्र में देखें, उस क्षेत्र में प्रत्येक प्राणी को त्वरा/शीघ्रता है। धनार्जन की त्वरा। इसे बेईमानी करने, शेयर मार्केट जैसे असुरक्षित व्यापार करने, यहाँ तक कि चोरी-डकैती करने, अपने ही माता-पिता, भाई-बहिन की संपत्ति हड़पने को विवश कर देती है। क्या यह कैसे भी धन प्राप्ति की त्वरा हमारी नैतिकता को समाप्त करने वाली नहीं है? क्या यह हमें बेचैनी/तनाव ही उत्पन्न करने में ही सहायक नहीं बन रही है?

भोग सामग्री के क्षेत्र में हम फास्ट फूड, यूज एण्ड थ्रो आदि सामग्रियों को अपनाने में लग रहे हैं। ये फास्ट फूड आदि हमारे धन, स्वास्थ्य, धर्म, संस्कृति के रक्षक हैं या भक्षक? यह विचारणीय है।

हमें धर्म करने की भी त्वरा है, धर्म समझने की नहीं। बिना समझे ही धर्म करने के नाम पर हम गृहीत मिथ्यात्व, अंधविश्वासों, कुरीतियों में फँस रहे हैं। धर्म करने की त्वरा में हम धन खर्च करते हैं और ऐसा समझते हैं कि

धर्म हो गया, मानो धर्म खरीदा जा सकता हो! पर हम धर्म कमाने के स्थान पर मान का पोषण कर लेते हैं तथा कर्ममुक्त होने के स्थान पर कर्मयुक्त ही होते रहते हैं।

हर क्षेत्र में त्वरा। भागो! और बस लक्ष्यहीन भागते जाओ। क्या यही मानव जीवन है? क्या यही जैन जीवन है? क्या इसीलिए भरतक्षेत्र, भारत देश, जैनकुल में जन्म लिया है। जागो; भागो मत। आत्मचिंतन करो, अन्यथा त्वरा की चिंतारूपी चिता में बहुमूल्य जीवन नष्ट हो जायेगा।

यदि त्वरा करनी ही है तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझने की करो, सत्य वस्तुस्वरूप समझने की करो, आत्महित करने की करो। यदि त्वरा करनी ही है तो मिथ्यात्व को नष्ट करने की, सम्यक्त्व/आत्मानुभूति प्राप्त करने की करो। यदि त्वरा करनी ही है तो आत्मानुभूति पूर्वक मुनिपद धारण करने की करो; यह त्वरा भी वस्तुत: है तो आकुलता-उत्पादक ही, परन्तु यह त्वरा परम्परा से आकुलता विनाशक सिद्ध होगी।

इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरो।
जब लौं न रोग जरा गहै, तबलौं, झटिति निज हित करो।।

जुलाई 2008

12

दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न...??

सम्पूर्ण देश में अति भव्य-नव्य रूप में दशलक्षण पर्व के मनाने का इन्तजार व तैयारियाँ चल रही थीं। दशलक्षण पर्व भाद्र शुक्ल पंचमी से भाद्र शुक्ल चतुर्दशी अर्थात् अनंत चतुर्दशी तक विविध कार्यक्रमों के साथ मनाये गए और अन्तत: प्रसन्नतापूर्वक सभी के मुख से निकला 'दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न।'

अनेकों भाई-बहिन हमेशा की तरह 'पूनम का पारणा, मंदिर को वारणा (दरवाजा बन्द)' कहावत को चरितार्थ करते हुए दशलक्षण पर्व पूर्ण होते ही अगले वर्ष तक के लिए जिनेन्द्र एवं जिनेन्द्र के भक्तों से जय-जिनेन्द्र करके प्रस्थान कर गये; क्योंकि दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न हो चुके थे।

मैंने मन्दिर/ट्रस्ट/संस्था के पदाधिकारियों से पूछा – 'दशलक्षण पर्व कैसे बीते?'

उत्तर आया – 'सानन्द; क्योंकि इस वर्ष अच्छी बोलियाँ लगीं। मन्दिर को अच्छी इनकम (कमाई) हो गई, अब तो हम सोचते हैं कि एक नई वेदी बनवाकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवा ली जाए।'

एक प्रवचनकार ने भी इस प्रश्न का उत्तर दिया – 'सानन्द सम्पन्न। अब की बार जहाँ प्रवचन करने गया था, वहाँ बहुत इज्जत, सम्मान एवं सामान मिला। आने-जाने का किराया भी कई गुना मिला। समाज तो इस तरह की ही होनी चाहिए।'

मैंने बालकों से पूछा – 'बेटा! दशलक्षण पर्व कैसे बीते?'

उत्तर आया – 'मजा आ गया! अब की बार इतने अच्छे सांस्कृतिक कार्यक्रम हुए – गीत, नृत्य, मेहँदी, फैंसी ड्रेस आदि प्रतियोगितायें हुईं, संगीत पार्टी भी बाहर से आई थी। बिलकुल नई फिल्मी तर्जों पर अच्छे-अच्छे आध्यात्मिक (?) भजन सुनने को मिले। हमने तो खूब डांस किया, मजा आ गया। बस, बीच में एक घंटे का प्रवचन जरूर बोर करता था।'

इसी तरह युवाओं ने डांडिया/गरबा खेलकर, महिलाओं ने नई-नई साड़ियाँ व आभूषणों का प्रदर्शन करके दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न किया। (आपके गाँव में भी कुछ इसी तरह सानन्द सम्पन्न हुए होंगे।)

पर विचार करना, क्या इसी का नाम दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न होना है? क्या मन्दिर को आय कराने/सांस्कृतिक कार्यक्रम/प्रदर्शन/सम्मान प्राप्त करने/कराने के लिए दशलक्षण पर्व आते हैं? क्या दस दिन पाप का

व्यापार कम करके धर्म के व्यापार को चलाकर 11वें दिन पुन: तीव्र गति से पाप का व्यापार प्रारम्भ कर देने से सुख शान्तिपूर्ण जीवन जी सकेंगे? नहीं।

इस अवसर पर अनेक साधर्मी ऐसे भी होंगे, जिन्होंने प्रवचनों के माध्यम से ज्ञानार्जन किया, जिनेन्द्र पूजन के माध्यम से भक्तिरस का रसास्वादन करते हुए, कृत दोषों का प्रक्षालन कर परिणामों में निर्मलता लाकर, भावी भवों का अभाव करने हेतु प्रयास करने का संकल्प लिया होगा। असदाचार से सदाचार, असंयम से संयम, अज्ञान से ज्ञान की ओर कदम बढ़ाने एवं और तेज चलने के लिए जिनवाणी माँ को हस्तगत कर हृदयंगम करने की भावना भायी होगी। वे यदि कहते हैं कि दशलक्षण सानन्द सम्पन्न! तब तो आंशिक रूप से बात सत्य भी मानी जा सकती है; पर ऐसे साधर्मियों की गिनती कितनी है?

दशलक्षण पर्व हमें कदाचार/दुराचार/भ्रष्टाचार से निकालकर सदाचार/शिष्टाचार सिखाने आते हैं। हमें मिथ्याज्ञान/अन्धविश्वासों/कुरीतियों से निकालकर सम्यग्ज्ञान को प्रकाशित करने आते हैं, परोन्मुखी वृत्ति को स्वोन्मुखी कराने, अपने से अपना परिचय कराने आते हैं। जिनका जीवन ऐसा हुआ है, उनके ही वास्तविकरूप में दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न हुए हैं; जिन्होंने यह लक्ष्य भी बनाया है, उनका भी आंशिकरूप से सानन्द सम्पन्न हुआ है।

यह दशलक्षण पर्व 'दिन दस - अब बस' के लिए नहीं; अपितु यह वह अमृत है, जिसका रसास्वादन हमें वर्ष भर करना चाहिए।

वस्तुत: कहा जाए तो दशलक्षण पर्व तो सम्पन्न होने नहीं, अपितु यह पर्व तो दशलक्षणों का शुभारम्भ/वृद्धि/पूर्णता कराने आते हैं; हम ऐसा समझें, स्वीकारें और उत्तमक्षमादि को प्रगट करें, तभी यह कहना सार्थक होगा कि दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न। अन्यथा.......?

अक्टूबर 2007

13

महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे/न:...

23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मुक्तिगमन के पश्चात् भारतवर्ष में जिनवचनामृत की वृष्टि करने वाले मेघ सदृश महामानव के अभाव में अनावृष्टि के कारण चतुर्दिक् अकाल की विभीषिका में गृहीत मिथ्यात्व एवं हिंसा की कँटीली झाड़ियाँ निरन्तर प्रसरित हो रही थीं; जिनके तीखे, नुकीले, कंटक मानव हृदय में उलझ रहे थे। मोह-महातम सम्पूर्ण विश्व को अपने आप में समाने की चेष्टा कर रहा था; ऐसे वातावरण में बालक वर्धमान के रूप में 24वें तीर्थंकररूपी सूर्य का अवतरण चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (सोमवार, 27 मार्च 598 ईसा पूर्व) को त्रैलोक्य को हर्षित करता हुआ। जिसने शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति नित्य वृद्धिंगत होते हुए वर्द्धमान नाम को सार्थक किया।

युवराज वर्धमान ने (30 वर्ष की आयु में) आत्मकल्याण की भावना से भव-भोगों से विरक्त होकर पूर्ण स्वतंत्रता की उद्घोषक अवस्था दिगम्बरत्व को धारण किया। कालान्तर में (12 वर्ष बाद, 42 वर्ष की आयु में) आत्मसाधना की परिपूर्णता के शुभ फल के रूप में केवलज्ञान प्राप्त हुआ और फिर हुई वह दिव्य/सिंह गर्जना,(श्रावण कृष्ण एकम् को) जिससे मिथ्यात्व, विषय-कषायरूपी सियार पलायन करने लगे। मोहान्धकार लुप्त हुआ। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हुआ। गृहीतागृहीत मिथ्यात्व के पर्वतों को भेदते हुए, शासन-नायक की दिव्यध्वनिरूपी दिव्य सलिला प्रवाहित हुई, जिसके शीतल सलिल का पान कर अनादि काल से संतप्त/तृषित प्राणियों का ताप एवं तृषा शमन हुई। यथार्थ वस्तुस्वरूप का निरूपण होने लगा। अनेकान्तात्मक वस्तु व्यवस्था, स्याद्वाद शैली में प्रतिपादित होने से एकान्त/हठाग्रह/दुराग्रह का अवसान हुआ।

भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि 'प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सीमा में प्रविष्ट नहीं होता/नहीं हो सकता; तब

फिर वह अन्य द्रव्य के कार्य का कर्ता कैसे हो सकता है। निमित्त होता है, पर निमित्त से कार्य नहीं होता। कार्य तो उपादान की स्वयं की योग्यता से क्रमबद्धपर्यायानुसार ही होता है, ऐसा समझकर आत्मा को मात्र ज्ञाता ही स्वीकार करने, उसमें जमने-रमने का नाम धर्म है, यही 'अहिंसा परमो धर्म:' है, यही वीतरागता है। वीतरागता ही धर्म है; राग में धर्म मानना अधर्म/मिथ्यात्व है।'

वस्तुस्वरूप का निरूपण करते हुए उन्होंने कहा कि - **'अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होतीं।''** 'प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर दु:खी है, भूल सुधार कर ही सुखी हो सकता है।'

आज भगवान महावीर स्वामी रूपी सूर्य यहाँ नहीं है, पर उनकी स्याद्वादमयी वाणीरूपी प्रदीप विद्यमान है, परन्तु हम अज्ञान वश आज फिर ज्ञान के प्रकाश से अंधकार की ओर गमन कर रहे हैं। हम सत्य मार्ग से भटक कर भगवान की स्याद्वादमयी वाणी में से स्यात् निकालकर वाद को विवाद का कारण बनाकर, उन्हीं मिथ्यात्व, विषय-कषाय की कँटीली झाड़ियों में उलझ रहे हैं, जिनमें भगवान महावीर के अवतरण के पहले उलझ रहे थे। राग में तो धर्म मान ही रहे हैं, साथ ही मंत्र-तंत्र आदि अनेकों अंधविश्वासों में भी उलझ रहे हैं। भगवान महावीर के अकर्तावादी दर्शन को कर्तृत्व का राहू ग्रस रहा है।

आज हमने भगवान महावीर को एवं उनकी वाणी को दिगम्बर/श्वेताम्बर/तेरहपंथी/बीसपंथी/सोनगढ़ी आदि भेदों में विभक्त कर दिया है। हम महावीर जयन्ती के भव्य प्रदर्शन में भी भगवान महावीर एवं उनके वीतरागी धर्म की प्रभावना के स्थान पर अपने सम्प्रदाय, अपनी संस्था की प्रभावना में अधिक लगे हुए हैं; जिससे प्रचार (शोरगुल, झण्डे, माइक, अखबारबाजी आदि) तो बहुत हो रहा है, पर प्रभावना नहीं। प्रभावना तो उसी व्यक्ति/संस्था

से होगी, जिसका नैतिक/धार्मिक जीवन प्रभावक होगा; जो स्वयं भगवान महावीर स्वामी के सिद्धान्तों और जीवन से प्रभावित होगा, जिसके जीवन में अहिंसा और वाणी में स्याद्वाद होगा।

आवश्यकता है, वीर के वाद् (वाणी) को स्यात् (कथंचित्/किसी अपेक्षा) से समझने की। महावीर भगवान की वाणी ही जिनवाणी है - जनकल्याणी है, आत्मकल्याणी है। भगवान महावीर को सम्प्रदायों के दायरे में कैद करना, अनन्त नीलाभ नभ को कैद करने जैसा है। वस्तुत: भगवान महावीर न दिगम्बर हैं, न श्वेताम्बर, न तेरहपन्थी, न बीसपन्थी। वे तो जैसा वस्तु का स्वरूप है, उस यथार्थ स्वरूप के ज्ञायक और ज्ञापक/प्रतिपादक हैं। प्रत्येक वस्तु, स्वभाव से ही स्वतन्त्र है, स्वयं परिणमनशील है, पर की अकर्ता है, अनादि-अनन्त है, ऐसा वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। ऐसे धर्म को ही उन्होंने जाना एवं उनके निमित्त से खिरी वाणी में प्रतिपादन हुआ। ऐसे दिगम्बर (आडम्बरहीन, स्वतन्त्र, निर्लेप) वस्तुस्वरूप को समझने की आवश्यकता है, समझौते की नहीं। महावीर जयन्ती के अवसर पर बस यही भावना है - महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे/न:....।

अप्रैल 2008

पोथी पढ़े से धर्म ना, ना धर्म मठ के वास से।
ना धर्म मस्तक लुंच से, ना धर्म पीछी ग्रहण से।।
धंधे पड़ा सारा जगत, निज आत्मा जाने नहीं।
बस इसलिए ही जीव यह, निर्वाण को पाता नहीं।।

– योगसार, आचार्य योगीन्दु देव

14

मिच्छामि दुक्कडं.....!

शाश्वत पर्वाधिराज दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न हुए। हृदय को निर्मल करने वाला क्षमावाणी पर्व भी सम्पन्न हुआ। शताधिक एस.एम.एस. व फोन 'मिच्छामि दुक्कडं/दुष्कृत्य मिथ्या हों' के प्राप्त हुए। अनेकों एस.एम.एस. में लिखा था 'मानव मन चंचल है, अज्ञानता से भूल हो जाना स्वाभाविक है...' इत्यादि।

सच ही है, भूल हो जाना स्वाभाविक ही है; क्योंकि जब हम दशलक्षण पर्व पर देव-शास्त्र-गुरु की आराधना कर, विद्वानों के प्रवचन सुनकर, प्रतिक्रमण/सामायिक पाठ पढ़कर भी स्वयं को ज्ञायक/जीव/आत्मा के रूप में न देखकर मानव/स्त्री/पुरुष के रूप में ही देख रहे हैं तो भूल का आधार/नींव डल गई, अत: अब भूलें होना ही होना है।

हमारा सौभाग्य है कि यदि 355 दिन हमने भूलें/अपराध/दोष किये हों; किसी के प्रति क्रोध, मान, छल किया हो तो दशलक्षण पर्व का प्रथम दिवस 'उत्तम क्षमा' हमें उन दोषों/मिथ्या अभिप्रायों/कषायों के प्रक्षालन का अवसर देता है और संदेश देता है कि अब निर्मल/निष्कषाय होकर कोमलता, सरलता, पवित्रता, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य को ग्रहण कर सुखी होने हेतु दशलक्षणमय धर्म की आराधना करो व प्राप्ति का प्रयास करो।

यदि अनादिकालीन संस्कारों से विगत 10 दिनों में (दशलक्षण पर्व के दिनों में) पारस्परिक व्यवहार के अनेक प्रसंग बनने पर, क्रोध-मानादि भाव जाग्रत हुए हों (हो भी सकते हैं) तो उन्हें क्षमावाणी के पर्व के अवसर पर, मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से अपने दोषों को क्षणिक आवेश/अज्ञानता/भ्रम से उत्पन्न हुए दोष स्वीकार कर एवं अन्य के कषाय भावों में निमित्त बनना स्वीकार कर स्वकृत दोषों की क्षमायाचना कर एवं अन्य कृत

दोषों को हृदय से क्षमा कर, अपने परिणामों को निर्मल कर लेने का पावन संदेश प्राप्त होता है। इस तरह मानो दशलक्षण पर्व का प्रथम दिवस उत्तम क्षमा 355 दिन के एवं क्षमावाणी पर्व पुन: 10 दिन व वर्ष पर्यन्त में किए हुए मलिन परिणामों के प्रक्षालन करने का अवसर देता है!

यह एक सुखद संयोग है कि दो बार हम क्षमा को याद करते हैं, वहीं दु:खद संयोग यह है कि हम दो-दो बार उत्तम क्षमा को स्मरण करते हुए भी स्व-पर को एक बार भी क्षमा नहीं कर पाते।

हम मित्रों के प्रति एस.एम.एस./पत्र/फोन करके इस पर्व की इतिश्री कर लेते हैं और कषायों को सुरक्षित रखकर, अपनी भूलों को न स्वीकार कर, यथावत् जीवन जीते रहते हैं; कठोरता, कुटिलता, अपवित्रता, असंयम आदि के आवरण नहीं हटा पाते; अत: हमारा दशलक्षण पर्व मनाना सार्थक नहीं हो पाता।

हम मिच्छामि दुक्कडं अर्थात् मेरे दुष्कृत्य मिथ्या/नष्ट हों, ऐसा बोलते हैं; पर यह बोलना सार्थक कब हो, जब हम दुष्कृत्यों/कषायों को भूल जायें। लोकोत्तर मार्ग में ही नहीं, अपितु लौकिक मार्ग में भी हम अपनी भूलों का प्रायश्चित्त करें। सर्वप्रथम तो अपनी भूल को स्वीकृत करें एवं आगे भूल न करने का संकल्प लें तथा सामने वाले की भूलों को भूल समझकर, अज्ञानता/भ्रम में किए गए कार्य समझकर, उसके द्वारा क्षमायाचना करने व न करने पर भी हम उन्हें भुला सकें, तब तो मिच्छामि दुक्कडं अथवा क्षमायाचना करना सार्थक होगा, अन्यथा मात्र औपचारिकता है।

दशलक्षण व क्षमावाणी पर्व जैसे दोष प्रक्षालक पर्वों पर हाथ जोड़कर, झुक-झुक कर मित्रों के समक्ष मिच्छामि दुक्कडं/क्षमा चाहते हैं/उत्तम क्षमा आदि मात्र बोलने से क्या मिच्छामि दुक्कडं हो गया? क्षमावाणी पर्व मनाना सार्थक हो गया? नहीं। यदि हम उत्तम क्षमा कहते हैं, माँगते हैं, चाहते हैं। दशलक्षण पर्व में प्रतिक्रमण/सामायिक पाठ पढ़ते हैं और पूर्व के दोष/वैर

भाव सुरक्षित रखते हैं, साम्यभाव जाग्रत नहीं होता तो कैसा मिच्छामि दुक्कडं?

उत्तम क्षमा तो वह शीतल नीर है, जो कषायों के ताप को शीतल कर दे। उत्तम क्षमा तो अमृत है, जो मृतप्राय जीवन को अमरता प्रदान कर दे। उत्तम क्षमा पारस है, जो लोहवत् परिणामों को कंचन बना दे। उत्तम क्षमा प्रक्षालक है, जो परिणामों की मलिनता का प्रक्षालन कर निर्मल/उज्ज्वल/धवल कर दे।

ऐसे क्षमावाणी पर्व को हम मात्र औपचारिकता में न गँवा दें; मात्र 'मिच्छामि दुक्कडं' के उद्घोष तक सीमित न कर दें, अपितु इसका उपयोग कर सर्वप्रथम स्व/पर को हर परिस्थिति में ज्ञायक/आत्मा के रूप में देखने का प्रयास करें। शरीर-मन-वाणी-व्यवहार-परिवार का अकर्ता देखने का अभ्यास करें, सर्वजीवों के प्रति मैत्री/वात्सल्य भाव/वीतरागी शासन का निर्वांछक होकर प्रभावना का भाव जाग्रत करें, इसके लिए नियमित रूप से जिनवाणी का स्वाध्याय करें, तभी लौकिक व लोकोत्तर जीवन में शान्ति/समता/सरलता/पवित्रता प्राप्त होगी, तभी 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना सार्थक होगा। इसी के साथ ''मिच्छामि दुक्कडं''!! **अक्टूबर 2010**

श्री राम-नन्दिनी ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प

बढ़ते भगवान घटते भक्त

- राजकुमार शास्त्री

प्रकाशक

समर्पण

ध्रुवधाम, पो. कूपड़ा, जिला-बाँसवाड़ा (राज.)

मो. + 91 94141 03492

प्रथम दो संस्करण : 3000 प्रतियाँ
तृतीय संस्करण : 2000 प्रतियाँ
दिनांक : रक्षाबन्धन (वात्सल्य दिवस) 10 अगस्त, 2014
प्राप्ति स्थान : समर्पण + 91 94141 03492
लागत मूल्य : 14 रुपये मात्र
पुनः प्रकाशन हेतु सहयोग राशि : 10 रुपये मात्र
मुद्रण व्यवस्था : प्री एलविल सन (संजय शास्त्री)
बी. 180 मंगल मार्ग, बापू नगर, जयपुर + 91 95092 32733

प्रकाशकीय

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति, तत्त्वप्रचार के प्रति, आत्महित व साधर्मियों के प्रति जिनका भी है, उन सबकी भावना व समर्पण से संचालित है 'समर्पण'। यह एक अगठित एवं अपंजीकृत संस्था है, जो कि अपने सीमित संसाधनों से साहित्य प्रकाशन, पत्राचार व सद्वाक्यों द्वारा जिनवाणी के प्रचार-प्रसार व सामाजिक कुरीतियों (रात्रिभोजन, पटाखे, शादी आदि के प्रसंगों में होनेवाली विकृतियों) के विरुद्ध एक छोटा-सा प्रयास करती है। इस कार्य में हमें 'ध्रुवधाम' पत्रिका का भी सहयोग प्राप्त होता है, जो हमारे विचारों को जन-जन तक पहुँचाने में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई है।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत श्री राम-नंदिनी ग्रन्थमाला के संस्थापकों ने डॉ. ममता जैन के शोध प्रबन्ध 'श्री कानजी स्वामी के प्रवचन साहित्य का अनुशीलन' ग्रन्थ का एवं अब पण्डित राजकुमार शास्त्री द्वारा ध्रुवधाम पत्रिका में प्रकाशित संपादकीयों के 14 लेखों के संकलन 'बढ़ते भगवान - घटते भक्त' के प्रकाशन का अवसर प्रदान कर समर्पण को गौरवान्वित किया है।

'बढ़ते भगवान - घटते भक्त' पुस्तिका के लेख एक ही बैठक में पढ़े जा सकने योग्य हैं, साथ ही जो विचारकों को कुछ सोचने की सामग्री प्रदान करते हैं।

साहित्य प्रकाशन के आगामी प्रकाशन में 'करम बिचारे कौन' बाल नाटक संग्रह, 'बढ़े सो पावे' एवं 'विलक्षण - दशलक्षण' पुस्तिका, जिसमें धर्म के दशलक्षणों का सहज बोधगम्य निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक संक्षेप में स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, प्रकाशन प्रस्तावित है।

अल्प समय में इसका तृतीय संस्करण का प्रकाशित होना एवं प्रतिष्ठित गुजराती पत्रिका गुरुप्रसाद में इन लेखों का क्रमशः प्रकाशित होना इसकी आवश्यकता एवं लोगों का इस सोच के करीब होना दर्शाता है।

यदि आप हमारी भावनाओं से सहमत हैं, जन-जागरण हेतु समर्पित हैं तो आप अपना समर्पित सहयोग प्रदान कर हमारा संबल बढ़ा सकते हैं।

अन्त में हम ग्रन्थमाला संचालक परिवार, लेखक, प्रकाशन सहयोगी, कीमत कम करने वाले दातारों एवं सुन्दर मुद्रण हेतु प्री एलविल सन, जयपुर के संजय शास्त्री (बड़ा मलहरा), जयपुर एवं मूल्य कम करने में सहयोग प्रदान करने वाले सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

'समर्पण' परिवार

राजकुमार शास्त्री	ऋषभ शास्त्री	अजित शास्त्री	पीयूष शास्त्री
8003639039	09425845620	9414499549	9785643202

मन की बात

लौकिक सुख-सुविधाओं/सामग्रियों के बढ़ने के साथ-साथ आज समाज के आचार-विचार - आहार-विहार सभी में अकल्पनीय परिवर्तन हो रहा है। इसी के साथ-साथ धर्म-क्षेत्र में भी लोगों की सोच, कार्य-पद्धति में भी परिवर्तन हो रहा है। मात्र परिवर्तन होता तो भी कोई बात नहीं थी; क्योंकि परिवर्तन तो प्रकृति का नियम है, अत: वस्तु स्वभाव के अतिरिक्त बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन होता ही है, होगा ही; परन्तु परिवर्तन के नाम पर विचारों में आज विकृति अधिक हो रही है, सर्वत्र ही धन का प्रभाव बढ़ रहा है। धन से ही पद, प्रतिष्ठा, धर्म, शान्ति मिलती है। ऐसा मान लिया गया है। धर्म के नाम पर आडम्बर बढ़ रहा है। यश पाने या धर्म के नाम पर भगवान बढ़ रहे हैं, पर भक्त घट रहे हैं। लौकिक शिक्षा का आकर्षण दिन दूना, रात चौगुना बढ़ रहा है, पर संस्कार गायब हो रहे हैं। दिखावट/बनावट/सजावट हो रही है। हर क्षेत्र में प्रदर्शन बढ़ रहा है पर दर्शन/विचारधारा गायब हो रही है।

हर बुद्धिजीवी यह सब देखकर चिन्तित है, अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार इन विकृतियों को दूर करने का प्रयास भी कर रहे हैं, परन्तु हम सब पंथवाद/संघवाद/व्यक्तिवाद के घेरे में कैद होकर रह गये हैं। हम किसी की अच्छाइयों/बुराइयों को भी उसका चेहरा देखकर स्वीकार कर पाते हैं। सचमुच, यह बड़ी विडम्बना है।

मैंने भी अपनी सोच के अनुसार समाज में फैल रही कुत्सित मानसिकता के परिचायक विषयों को किंचित् व्यंग्यात्मक शैली में 'ध्रुवधाम' पत्रिका के संपादकीयों के रूप में विविध अंकों में प्रकाशित किया, जिन्हें प्रबुद्ध पाठकों ने सराहा भी। वे सभी विषय एक साथ एक ही जिल्द में पढ़ने को मिल सकें - एतदर्थ यह प्रयास है।

ये लेख आपकी आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने के लिए नहीं हैं, न ही आगमिक ज्ञानवर्धन के लिए; पर मुझे विश्वास है कि ये लगेंगे आपको अपने आस-पास ही। हम न तो मन्दिर/प्रतिमा के निर्माण के विरोध करने की भावना रखते हैं और न ही साहित्य प्रकाशन के, परन्तु हमारी चिन्ता का विषय उस अनुपात में दर्शनार्थियों व पाठकों का न बढ़ना है; और न बढ़ने में कारण कहीं न कहीं समाज के नेतृत्व की शिथिलता/पंथव्यामोह है। हमारा मानना है कि समाज के कुछ मुद्दों पर हमें अपनी विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए भी एक होकर कार्य करना चाहिए या करते हुए की अनुमोदना तो करनी ही चाहिए।

यदि ये विचार आपको, अपने विचारों के आस-पास लगें तो दूसरों तक पहुँचायें एवं 'समर्पण' को सूचित करें और यदि आपको लगे कि समाज में ऐसा कहीं कुछ नहीं है तो कृपया यह खुशखबरी हमें जरूर प्रदान करें; अन्यथा आप समाज सुधार में जो भी अपना सहयोग दे सकते हैं, अवश्य दें। यदि चुप रहे तो शायद बहुत देर हो जायेगी।

– राजकुमार शास्त्री, 'ध्रुवधाम', बाँसवाड़ा

हमें शिकायत है उन

आयोजकों से – जो सम्यग्दर्शन के निमित्तभूत पंचकल्याणक आदि कार्यक्रमों को मात्र प्रदर्शन या फण्ड बनाने तक सीमित करके आयोजन को सफल मानते हैं।

वक्ताओं से – जो श्रोताओं को रिझाने के लिए तत्त्व की मुख्यता न करके उदाहरण काव्य/हास्य आदि के माध्यम से रोचकता की मुख्यता रखते हैं।

श्रोताओं से – 1. जो समाज या परिवार में उनकी इच्छानुसार न चलने वालों को अपने मन की बात समझाने के लिए वक्ताओं को प्रेरित करते हैं एवं मुख्य विषय से वक्ता को दूर ले जाकर अपना व समाज का अहित करते हैं।

2. जो जिनवाणी के सिद्धान्तों का उपयोग अपने विषय-कषाय के पोषण में करते हैं। व्यवहार के उपदेश से कर्तृत्व का एवं निश्चयनय, क्रमबद्धपर्याय के उपदेश से स्वच्छन्दता का उपदेश ग्रहण करते हैं।

दानदाताओं से – 1. जो मान-पोषण व प्रदर्शन हेतु बोलियों आदि में तो उदारता पूर्वक व्यय करते हैं, परन्तु दर्शन (सिद्धान्तों) के प्रचार-प्रसार हेतु मितव्ययता दिखलाते हैं।

2. जो अचेतन (मंदिर/प्रतिमा/भवन) के निर्माण व सँभाल में तो उदारतापूर्वक खर्च करते हैं, परन्तु चेतन की सँभाल (किसी गरीब की शैक्षणिक, स्वास्थ्य या व्यापारिक व्यवस्था हेतु) में उदारता नहीं दिखाते।

भक्तों से – 1. जो भक्ति के नाम पर भगवान को तो घिस डालते हैं, परन्तु अपनी कषायें (राग-द्वेष) रंचमात्र भी नहीं घिसते।

2. जो भक्ति के नाम पर मंदिर के बाहर स्पीकर लगाकर अखण्ड पाठ/आरती/भक्ति भगवान को सुनाते हैं और ध्वनि प्रदूषण फैलाते हैं, परन्तु भगवान की सुनते/मानते नहीं हैं। (भगवान को तो मानते हैं, पर भगवान की नहीं मानते।)

विधानाचार्यों/प्रतिष्ठाचार्यों से – जो वीतरागता के लक्ष्य से विधि-विधान की शुद्धतापूर्वक पूजन कराने व वीतरागता का महत्त्व, देश-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझाने या सिद्धान्त समझाने के कारण अपनी श्रेष्ठता नहीं समझते; बल्कि बोलियों के द्वारा धन एकत्र कराने की कला के कारण अपने को श्रेष्ठ मानते/मनवाते हैं।

मंदिर संचालकों से – 1. जो अष्टकर्मविध्वंसनाय, मोक्षफलप्राप्तये या अनर्घ्यपदप्राप्तये जिनेन्द्र के समक्ष समर्पित सामग्री (चावल-गोले आदि) को माली/सेवक को वेतन/पुरस्कार के रूप में देकर उससे काम कराते हैं। (चढ़ी हुई सामग्री का किसी भी रूप में उपयोग करना, निर्माल्य का उपयोग करना अनंतानुबंधी लोभ है।)

2. जो स्वाध्याय हेतु लाई गई कीमती जिनवाणी को कीमती अलमारियों में कीमती ताले लगाकर सुरक्षित रख देते हैं, जिसकी चाबी का उनको भी पता नहीं रहता।

3. जो मंदिर में कलर (रंग) कराने, लाइट लगाने, कलश, छत्र, चँवर आदि चढ़ाने में तो रुचिपूर्वक व्यय/व्यवस्था करते हैं; पर स्वाध्याय हेतु योग्य विद्वान व पर्याप्त जिनवाणी की व्यवस्था करने में उदासीनता दिखलाते हैं।

अभिभावकों से – 1. जो अपनी बड़ी-बड़ी बच्चियों से फिल्मी या फिल्मी तर्जों के गीतों पर अत्याधुनिक ढंग से नृत्य कराकर प्रशंसा करते/कराते हैं, परन्तु उन्हें धर्मज्ञान हेतु प्रेरित नहीं करते।

2. जो नेताओं/अभिनेताओं/खिलाड़ियों से संबंधित जानकारी अपने बालकों को होना अनिवार्य समझते हैं व इस जानकारी से ही बालकों को योग्य समझते हैं; परन्तु तीर्थंकरों/आचार्यों/विद्वानों का परिचय न स्वयं करते हैं, न उन्हें कराते हैं।

3. जो अपने बालकों को नृत्य/संगीत/मेहँदी/पाक/कम्प्यूटर आदि कलायें तो सिखाते हैं; परन्तु मंदिर जाने/ पूजन करने, प्रवचन करने/सुनने श्रावकाचार के अनुरूप भोजन बनाने व साधर्मियों को वात्सल्यपूर्वक भोजन कराने की कला नहीं सिखाते।

निवेदक – समर्पण

तुमको पहचाना, तुम झट बेटा देते हो, और डाकिनी भूत तुरत ही हर लेते हो।
कभी-कभी तो तुमको यह कौतूहल आता, अरे फेर देते सहसा ही जज का माथा।।
इसीलिए आवश्यकता भगवान तुम्हारी, ब्लेक मार्केटिंग में रखते लाज हमारी।
और नहीं तो हमको तुमसे मतलब भी क्या? दुनिया में बस इसीलिए भगवान बच गया।
तुम्हें जानकर जग तुमसे अनजान रह गया।

तुम्हें जानकर जग तुमसे अनजान रह गया।।
बाहर के देवता का फंक्शन तो होता रहा।
ज्योतियों के काजल से मंदिरों को धोता रहा।
कैसे पूरी होंगी तेरी मन की तमन्नायें,
तेरे घर का देवता तो आज तक सोता रहा।

– युगल जैन, कोटा

अनुक्रमणिका

क्र.	विवरण	पृष्ठ
1.	बढ़ते भगवान (प्रतिमाएँ) – घटते भक्त	1
2.	बढ़ते स्वाध्याय भवन – घटता स्वाध्याय	3
3.	बढ़ती लौकिक शिक्षा – घटते धार्मिक संस्कार	7
4.	बढ़ता प्रदर्शन – घटता दर्शन	9
5.	बढ़ता साहित्य – घटते पाठक	12
6.	बढ़ते संगठन – घटता संगठन	15
7.	सन्तान को सम्पत्ति ही नहीं, सन्मति/संस्कार...	19
8.	कौन कहता है, भगवान भरोसे गाड़ी नहीं चलती	24
9.	क्या हम पुण्यशाली हैं	27
10.	चमत्कार को नमस्कार या नमस्कार को में चमत्कार	29
11.	आधुनिक आत्मिक रोग – त्वरा (शीघ्रता)	32
12.	दशलक्षण पर्व सानन्द सम्पन्न	34
13.	महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे/नः	37
14.	मिच्छामि दुक्कडं	40

देह शिथिल होने पर उपाय करना व परिणामों की शिथिलता होने पर उपाय न करना ये देह में एकत्व बुद्धि की पहचान है।

1. भीड़ की मनोवृत्ति बड़ी विचित्र होती है। वह तो जहाँ मुड़ गई, सो मुड़ गई। सत्य की बात तो बहुत दूर, भीड़ तथ्यों की तह में भी नहीं जाती; यही कारण है कि वह प्रचार का शिकार हो जाती है।
2. सफलता संगठन एवं असफलता विघटन की जननी है।

– सत्य की खोज